ॐ श्री परमात्मने नमः

एकादश अध्याय

गीता के एकादश अध्याय में विश्वरूप दर्शन है। इसके पहले दसवें अध्याय में भगवान ने अपने विभूतियों का वर्णन किया था। उन्होंने बताया था, 'मैं सबमें हूं।' अब इस अध्याय में वे बताएंगे 'सब मुझमें हैं'। वैसे भी किसी भी विद्या का ज्ञान प्राप्त करना हो तो पहले तो हम थ्योरी समझते हैं फिर एक्सपेरिमेंट करते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव होने पर ही हम अपने ज्ञान को पूर्ण मानते हैं। अध्यात्म विद्या में तो यह बात और भी दृढ़ता से लागू होती है। शब्दिक ज्ञान से मनुष्य पंडित बन सकता है ज्ञानी नहीं। ज्ञानी तो तभी होगा जब कि उसे जीवन में उतार ले। जो विद्या को जीविका बनाते हैं वे तो शाब्दिक ज्ञान तक ही सीमित रहते हैं किंतु जो भगवान का प्रेमी, उनका भक्त या साधक होगा वह शाब्दिक ज्ञान से संतुष्ट नहीं होगा। वह जितना सुनेगा उसकी अतृप्ति उतनी ही बढ़ती जाएगी। ईश्वर दर्शन की लालसा बलवती होती ही जाएगी और अंत में जब ऐसा क्षण आता है कि 'अब और सहा नहीं जाता, प्रभु, तुम मुझे अपना दर्शन कराओ' तभी वह दर्शन के योग्य बनता है। शिष्य के प्रश्न करने पर गुरु ने उसे पानी में डुबा दिया था और फिर कहा था कि ईश्वर दर्शन की लालसा जब इतनी बलवती हो जाएगी, जब तुम इस प्रकार छटपटाओगे जैसे अभी ऊपर निकल कर सांस लेने के लिए तड़प रहे थे, तब ईश्वर दर्शन देंगे।

अर्जुन की यह स्थिति आ गई है। भगवान के श्रीमुख से उनकी विभूतियों का वर्णन उसे अमृतमय लग रहा था। उसने कहा था कि आपके वचनों को सुनकर मेरी तृप्ति नहीं हो रही है और मैं सुनना चाहता हूं। श्री कृष्ण भी सुनाते जा रहे हैं और अर्जुन उस रस का पान करता जा रहा है पर अंत में भगवान ने कह दिया जितना कुछ तुम्हें बताया वह तो अंश मात्र है तब अर्जुन को पता चला कि उसकी प्यास शब्दों को बुझाने वाली है ही नहीं। उसने श्रीकृष्ण को समग्र रूप में जानना चाहा था जो शब्दों में समा नहीं

सकता। वह व्याकुल हो उठा। अधीर होकर उसने प्रार्थना की–'भगवन अब तो आपका यह विराट् रूप मुझे प्रत्यक्ष दिखाइये।' भगवान तो ऐसे ही क्षण की प्रतीक्षा कर रहे थे। वे तो चाहते थे कि भक्त व्याकुल हो उनके दर्शन की लालसा प्रकट करे और वे दर्शन दें। इस अध्याय में उनके इसी दर्शन तथा अर्जुन की प्रतिक्रिया का वर्णन हम पाएंगे।

विश्व रूप दर्शन की बात आते ही हमारी आंखों के सामने एक चित्र घूम जाता है जो बहुत ही प्रचलित है। श्रीकृष्ण के स्थान पर एक विशाल आकृति है विष्णु भगवान की, जिनके मुख के दोनों ओर बहुत सारे भिन्न–भिन्न प्रकार के तेजस्वी, सौम्य और भयानक मुख बने हैं। आग की लपटें निकल रही हैं, अनेकों प्राणी उन मुखों में समाते जा रहे हैं और कोने में अर्जुन की छोटी सी आकृति हाथ जोड़े खड़ी है। चर्म चक्षुओं के द्वारा विश्वरूप ऐसा ही दिख सकता है इससे अधिक नहीं क्योंकि हमारी ये आंखें बाह्य प्रकृति को देखने के लिए ही बनाई गयी है। इन आंखों से ईश्वर दर्शन संभव नहीं लेकिन इस बात को न मानकर लोग कह देते हैं कि ईश्वर है ही नहीं। बात कुछ ऐसी ही है जैसे अंधा कहे– 'प्रकाश कहां है? है तो दिखा दे मुझे। जो प्रकाश की बात करते हैं वे भ्रम में जी रहे हैं, वे अंधविश्वासी हैं।'

अन्धे के पास कान है, लेकिन प्रकाश सुना नहीं जा सकता। उसके पास हाथ है लेकिन प्रकाश को छुआ नहीं जा सकता। उसके पास नाक है लेकिन प्रकाश को सूंघा नहीं जा सकता। प्रकाश को जानने के लिए आंखें चाहिए जो उसके पास है नहीं। वह प्रकाश में ही जी रहा है पर कहता है प्रकाश है नहीं।

हमारे पास भी जो नेत्र हैं उनसे भगवान को जाना नहीं जा सकता। हमने तो दूरबीन, टेलीविजन आदि का आविष्कार कर इसकी बाहरी क्षमता बढ़ा ली है। जितना हम बाहर अधिक देख पा रहे हैं उतनी हमारी भीतर देखने की क्षमता क्षीण होती जा रही है। हमारे लिए चांद की यात्रा सुगम है लेकिन अन्तर्जगत की यात्रा अति दुर्गम। जब बाहर देखना बंद कर हम अन्तर्दृष्टि का विकास करेंगे तभी इस विराट् रूप को देख समझ पाएंगे। देखने की इस शक्ति को दिव्य चक्षु कहते हैं और इससे विराट् रूप कैसा दिखाई पड़ेगा इसे

शब्दों से जितना समझा जा सकता है समझ लें। बाकी तो हमारी साधना पर निर्भर है।

पहले तो यह विचार करें कि विविधता का ज्ञान कैसे होता है। जब हम उंगलियों को सटा कर रखते हैं तो लगता है यह एक हथेली है। किंतु फैलाते ही वे पांच उंगलियां लगने लगती हैं। सटी हुई उंगलियों के बीच कोई आकाश, कोई स्थान, कोई स्पेस नहीं था। यह आकाश ही विविधता ले आता है। इसी प्रकार समय भी एक दूसरे को अलग करता है। कल यह फूल कुछ और नजर आ रहा था, क्योंकि कली था, आज कुछ और नजर आ रहा है। यदि किसी प्रकार हमारा यह स्थान और काल का भाव नष्ट हो जाए तो यह ब्रह्माण्ड जैसा प्रतीत होगा वही विश्वरूप है।

एक बार दसवें अध्याय के उस कुम्हार के पास चलें जिसने सांचे में गीली मिट्टी डालकर मिट्टी की अनेक विभूतियां बनाई थी। गीली मिट्टी का मोर, चिड़िया, हाथी, बंदर, औरत, महात्मा गांधी सब है। हठात् उसके मन में कुछ और बताने की इच्छा होती है और वह सबको पिचका कर मिट्टी का एक बड़ा लोंदा बना देता है। देशकाल का भाव नष्ट हो गया। सारे आकार समाप्त हो गए। मिट्टी के इस गोले पर सभी आकृतियां एक दूसरे से गुंथी हुई दिखाई देंगी। कहीं बंदर की पूंछ होगी, कहीं हाथी की सूंड। हमें वह दृश्य विचित्र जान पड़ेगा।

सभी वस्तुओं में अलग-अलग परमात्मा को देखना फिर भी सरल है। खिलौने में मिट्टी को बालक भी पहचान सकता है लेकिन मिट्टी का एक गोला देखें और उसमें असंख्य आकृतियां दिखने लगे यह तो कलाकार की दृष्टि द्वारा ही संभव है। कुम्हार को वे मोर, चिड़िया, हाथी, बंदर, औरत और महात्मा गांधी ही नहीं दिखाई दे रहे, उसमें तो उसे असंख्य नई-नई आकृतियां दिख रही हैं जो बच्चे को नहीं दिख रही। यह कुम्हार की विशेष दृष्टि है। भगवान अर्जुन को यही दिव्य दृष्टि देते हैं। सारा ब्रह्माण्ड एकीभूत होकर एक साथ उसे दिखाई देने लगता है। आइये हम देखें कि अर्जुन का यह अनुभव कैसा रोमांचकारी रहा।

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ।।१।।

अर्जुन ने कहा - मुझ पर अनुग्रह करने के लिए आपने जो परम गोपनीय वचन कहे उनसे मेरा मोह नष्ट हो गया है।

इस श्लोक में अर्जुन स्वयं अपनी अवस्था का वर्णन कर रहा है। अर्जुन को अब कुछ ही क्षणों में भगवान का दर्शन होने वाला है अतः गीता में वर्णित उसकी इस समय की अवस्था का सूक्ष्मता पूर्वक अध्ययन करेंगे तो हमें समझ में आ जाएगा कि कौन ईश्वर दर्शन का पात्र है।

अर्जुन कह रहा है कि गुरु के मुख से ज्ञान सुनकर उसका मोह दूर हो गया है। तो मोह दूर होना पहली शर्त है ईश्वर दर्शन की। मोह का अंत होने पर ही हम किसी भी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति को ठीक-ठीक समझ सकते है। मोह के कारण ही माता-पिता को अपना तीस वर्ष का पुत्र भी बच्चा ही लगता है। जब हम किसी मंदिर में जाते हैं तो पहले तो हमें उसके चारों ओर के उद्यान की सुंदरता ही लुभा लेती है। उसका आनंद त्याग जब हम मंदिर में घुसते हैं तो उसकी विशालता, भव्यता, चारों ओर लगे सुंदर चित्र, स्तम्भ आदि हमें लुभाते हैं। जब तक हम इन्हें देखते रहते हैं तब तक हम मूर्ति के दर्शन नहीं कर पाते। इन सबके मोह को छोड़ने पर ही आखें मूर्ति पर टिकती है। उस समय भी पहले हमारी आखें मूर्ति की सुदंरता, उसके गहने कपड़ों को ही देखती हैं। फिर भगवान के श्रीमुख पर ध्यान जाता है- कितनी मोहक मुस्कान, कैसी करुणापूरित दृष्टि ... और फिर इन सबके मोह को भी छोड़ कर हम आंखें बंद कर लेते हैं। तभी हमारा दर्शन पूर्ण होता है।

परमात्मा के दर्शन के लिए जगत के मोह को छोड़ना आवश्यक है। अर्जुन जब तक मोहग्रस्त था तब तक उसके प्रश्न नैतिक थे। 'युद्ध करुं न करुं' का प्रश्न ही उसके सामने विकराल संकट बन कर खड़ा था। अब मोह हट गया है तो वह इन बातों को भूल गया है। अब उसकी जिज्ञासा आध्यात्मिक हो गई है। हम भी जब तक अपनी बौद्धिकता को दो-दो पैसे

कमाने, इकट्ठे करने, उनसे बच्चों को पालने, दुकान चलाने, यश कमाने में लगाएं रखेंगे तब तक वही सब चरम सत्य लगता रहेगा। जब तक इन तुच्छ बातों को हम अपनी अंतिम उपलब्धि समझते रहेंगे तब तक आंख उस ओर उठेगी ही नहीं जहां परम सत्य दिखाई पड़े। अतः मोह त्याग पहली शर्त है।

मोह के इस अंत के लिए आवश्यक है भगवान की कृपा। यहां अर्जुन भगवान से कहता है कि आपकी कृपा से मेरा मोह दूर हो गया। यहां ध्यान देने की बात यह है कि जो ईश्वर दर्शन की पात्रता प्राप्त कर लेते हैं उन्हें समझ में आता है कि उन्होंने जो साधना अब तक की वह कितनी तुच्छ थी और जो उपलब्धि उन्हें हुई है वह कितनी महान है। अपनी मेहनत का गर्व चूर-चूर हो जाता है। वह यही समझता है कि उस पर भगवान की असीम कृपा हुई है। जब तक यह भाव नहीं आ जाए, जब तक अपनी साधना, अपने श्रम, अपनी योग्यता का किंचित मात्र भी अहंकार शेष है तब तक ईश्वर दर्शन नहीं हो सकता।

इसका अर्थ यह नहीं कि ईश्वर दर्शन तो केवल भगवान की कृपा से ही संभव है अतः श्रम करना बेकार है। श्रम और साधना तो हमें पात्र बनाती है ताकि हम प्रभु की निरंतर बहती कृपा धारा को ग्रहण कर सके। यह तो हमारे अर्न्तजगत के बंद कपाटों को खोलती है। कपाट बंद रहे तो सूर्य का तेज बाहर कितना ही प्रखर हो, हम उसका लाभ नहीं उठा सकते।

भगवान ने अर्जुन में योग्यता देखी तभी अपना विराट् रूप दिखाया था लेकिन अर्जुन इतना निरहंकारी हो चुका था कि उसे अपनी पात्रता नहीं, भगवान का अनुग्रह ही नजर आ रहा था। उसने आगे कहा :-

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ।।२।।

हे कमल नयन, मैंने विस्तारपूर्वक भूतों की उत्पत्ति और लय सुना था, आपका अविनाशी माहात्म्य भी सुना।

अर्जुन को अभी भगवान से विश्वरूप दिखाने की प्रार्थना करनी है अत: अपने को योग्य साबित करना ही होगा। अभी अभी कठिन अध्याय विभूति योग समाप्त हुआ है। अब आगे बढ़ने की प्रार्थना करने के पहले वह बता देना चाहता है कि उसने क्या क्या समझ लिया है। तभी वह योग्य माना जाएगा। यहां अर्जुन बता रहा है कि उसने सैद्धांतिक रूप से समझ लिया है कि किस प्रकार प्राणी उत्पन्न होते हैं। किस प्रकार उनका लय होता है यह भी वह जान गया है। इस उत्पत्ति और लय के पीछे महिमा किसकी है, यह भी वह स्पष्ट समझ चुका है।

बुद्धि द्वारा हम कितना भी समझ लें प्रत्यक्ष देखने की बात ही कुछ और होती है। और जब हम किसी विलक्षण चीज को बुद्धि से स्पष्ट समझ लेते हैं तब उसे प्रत्यक्ष देखने की लालसा अति बलवती हो जाती है। हमें समझाया गया है कि यह जो कांच का गोला दिखाई दे रहा है उसके बीच में एक बारीक तार है। प्लग लगा देने से इसमें विद्युत धारा प्रवाहित होने लगती है। तब यह गर्म हो जाता है। गर्म होने पर पहले यह लाल होता है। फिर और बहुत गर्म हो जाने पर इसमें से इतनी रोशनी निकलने लगती है कि मोमबत्ती, लालटेन वगैरह इसके सामने कुछ भी नहीं। और यह सब एक सेकण्ड से भी कम समय में घटित हो जाता है। पहले तो शायद बल्ब देखकर हमारी उत्सुकता कुछ नहीं जागी हो पर इतना विज्ञान समझ लेने के बाद हम अपनी उत्कंठा दबा पाएंगे? हमारी तो सर्वोपरि इच्छा यही हो जाएगी कि प्लग लगा कर देखें कि कैसे एक सेकेण्ड से भी कम समय में कमरा प्रकाश में भर उठता है।

अर्जुन ने इतना सुन लिया है कि उसकी उत्कंठा रोके नहीं रुक रही। मोह समाप्ति के कारण उसमें पात्रता भी आ गयी है। अब उसे न युद्ध न युद्ध भूमि दिखाई दे रही है न पितामह न आचार्य द्रोण। उसके हृदय को 'युद्ध करूं न करूं' का प्रश्न भी व्यथित नहीं कर रहा। उसके प्राणों की बस एक ही पुकार है जो उसके होठों पर आ ही गयी।

एमवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तमम् ।।३।।

हे पुरुषोत्तम! आप अपने आप को जैसा कहते हैं वह वास्तव में ऐसा ही है। हे परमेश्वर मैं आपके ऐश्वर्य रूप को देखना चहता हूं।

अब दास ने अपने स्वामी को, भक्त न अपने भगवान को, आदेश दे ही डाला- 'मैं आपका रूप देखना चाहता हूं।' इसमें यही भाव निहित है कि अब तो आपको अपना रूप दिखाना ही होगा।

अद्‌भुत है भगवान की भक्त वत्सलता। वे तो केवल शुद्ध प्रेम देखते हैं जो अर्जुन में था। ऐसा शुद्ध प्रेम कि श्रीकृष्ण के महात्म्य को न जानते हुए भी केवल उन्हीं को पाना चाहता था। युद्ध भूमि की परम आवश्यकता है सेना। किन्तु अर्जुन ने श्रीकृष्ण को चाहा। केवल उन्हें। और किसी को नहीं। अपने रथ की बागडोर सौंपी- केवल उन्हें। अपने मोह का निराकरण चाहा- केवल उनसे। अपने कर्त्तव्य के लिए आदेश मांगा- केवल उनसे। 'हे प्रभु मैं आपकी शरण हूं। आप वही बताइए जिसमें मेरा कल्याण हो। मैं वही करूंगा जो आप कहेंगे।'

जब भक्त की समस्त कामना, समस्त बौद्धिकता का केन्द्र बिन्दु भगवान बन जाते हैं तो भगवान अपनी भगवत्ता भूल बैठते हैं। वे भक्त के पराधीन हो जाते हैं। तीनों लोकों को नचाने वाला छछिया भर छाछ पर नाचने लगता है और समस्त ब्रह्माण्ड को भृकुटि विलास से चलाने वाला भक्त की इच्छा के अनुसार चलने लगता है। किन्तु अर्जुन को लगा कि भगवान को इस प्रकार आदेश देकर उसने शिष्टता की सीमा का अतिक्रमण कर डाला है। किसी भी वस्तु को पाने के लिए केवल इच्छा ही तो पर्याप्त नहीं, पात्रता भी होनी चाहिए। पता नहीं, मैं इस महती कृपा के लायक हूं भी या नहीं। मेरी यह मांग अनुचित तो नहीं? अपने शब्दों को यथाशक्ति सुधारते हुए अर्जुन ने कहा-

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ।।४।।

हे प्रभु! यदि आप समझते हैं कि मेरे द्वारा देखना सम्भव है तो हे योगेश्वर, मुझे अपने अविनाशी स्वरूप का दर्शन दीजिए।

प्रार्थना वही है किन्तु भाव थोड़े बदल गए हैं। वास्तव में भगवान तो हम पर कृपा-वृष्टि करने को तैयार ही रहते हैं, हम ही उसे ग्रहण करने को तैयार नहीं रहते। हमारी स्थिति उस बच्चे के समान है जिसे भूख लगती है तो मां के पास भोजन मांगने दौड़ता है, किन्तु मां थाली परोसे, तब तक फिर खेल खिलौनों में ध्यान चला जाता है। मां व्याकुल है कि बच्चा भूखा है। उसे कितनी भूख लगी है। वह तुरन्त आ जाए और खा ले। किन्तु बच्चा खेल का मोह छोड़ खाना खाने तैयार हो तब तो बात बने। हम भगवान से भक्ति, ज्ञान वैराग्य मांग तो लेते हैं पर हममें उनके मिलने तक प्रतीक्षा करने का धैर्य कहां? हमारा मन तो संसार के खेल खिलौने में पड़ा है। खिलौने का मोह छूट नहीं रहा। भूख बीच-बीच में तेजी से सताने लगती है। बच्चा चिड़चिड़ा हो गया है। वह इतना चिड़चिड़ा हो गया है कि खिलौनों को पटक रहा है, लात मार रहा है, बात बेबात पर झंझट कर रहा है पर इन्हीं सबके चक्कर में अब भी भोजन कर नहीं रहा।

भगवान की ओर हम एक बार उन्मुख हुए नहीं, अपनी आध्यात्मिक भूख प्रकट की नहीं, कि वे तो आतुर हो जाते हैं। वे चाहते हैं हम जमें रहें कुछ देर, लेकिन हमें तो विषय वासना के खेल खिलौने प्यारे हैं। अपनी उस भूख को अनदेखी कर लगे रहते हैं उनमें। लेकिन ये खेल खिलौने हमें तृप्ति नहीं दे पाते। बार-बार हमारा मन उचटता है। खीजते हैं, झींकते हैं, खिलौने को पटक देते हैं पर उस भूख के प्रति निष्ठावान नहीं होते। आज अर्जुन में ऐसी निष्ठा आई है। भगवान प्रसन्न हैं।

पर एक बात और समझने की है। हम भगवान से ईश्वर दर्शन की मांग कर रहे हैं तो क्या हम उस लायक भी हैं? कई बार प्रश्न उठता है कि भगवान से कुछ मांगना चाहिए कि नहीं। भगवान तो अन्तर्यामी हैं, उनसे क्या मांगना? कहीं यह भी कहा जाता है कि मांगे बिना भगवान भी नहीं देते। यहां मांगने और देने का मनोविज्ञान समझना जरूरी है। इसमें कोई शक नहीं कि भगवान तो मुक्तहस्त से सदा ही देने के लिए तैयार रहते हैं किन्तु देने की क्रिया पूरी हो इसके लिए देने वाला और लेने वाला दोनों चाहिए। देने वाला योग्य है तो लेनेवाला भी योग्य होना चाहिए। उसमें उस वस्तु को पाने की प्रबल इच्छा हो, धीरज हो तथा दान लेने पात्रता हो।

एक पिता के दो पुत्र हैं। एक व्यवसायी दूसरा जुआरी। दोनों को धन की सख्त आवश्यकता है। दोनों पिता को मनाते हैं। पिता धन पहले को ही देता है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह दूसरे को प्यार नहीं करता। उसे धन न देने में ही वह उसकी भलाई देखता है। जुआरी पुत्र को तो मुंहमांगा धन कोई मूर्ख, मोहांध और अविवेकी पिता ही देगा। हमारे भगवान ऐसे तो नहीं। वे तो त्रिकालज्ञ, सर्वज्ञ हैं। उन्हें हमारे भूत-भविष्य, वर्तमान सबका पता है। वे हमें वही देंगे जो हमारे लिए उचित है।

बहुत बार हमें लगता है कि भगवान या तो एकदम मूर्ख है या हमारे परम विरोधी हैं। हम मांगते कुछ हैं वे देते कुछ और हैं। भगवान पर ऐसा आरोप लगाने के पहले हम विश्लेषण करें कि हमारी प्रार्थनाएं कैसी है। बहुधा हम विरोधाभासी चीजें मांगते हैं। लड़की चाहती है कि उसका होने वाला पति बड़ा रोबीला हो, दबंग हो, सब पर अनुशासन करने की क्षमता रखने वाला हो और मेरी सभी बात माने। उसकी आखिरी इच्छा पहली इच्छाओं से एकदम विपरीत है। एक ही व्यक्ति शेर भी हो, बकरी भी, यह कैसे हो सकता है? इसी प्रकार लड़का चाहता है कि उसकी पत्नी अपूर्व सुन्दरी हो और कोई उसे गलत नजरों से भी न देखे। माता-पिता चाहते हैं उनका पुत्र बड़ा बुद्धिमान, बहुत समझ बूझ कर हर काम करने वाला हो लेकिन उनके कहे अनुसार एक देहाती लड़की से शादी कर ले या मंदिर के मैले कुचैले ब्राह्मणको भक्ति से प्रणाम करे जिसे स्वस्ति वाचन भी शुद्ध तरीके से बोलना न आता हो। हमें ऐसी भैंस चाहिए जो देखने में काली न हो, जिसके बड़े सींग न हो, जो लात न मारे और रोज बीस लीटर दूध दे। इन विरोधाभासी प्रार्थना को भगवान भी चाहें तो एक साथ पूरा नहीं कर सकते इसलिए वे इंस्टालमेंट में पूरी करते हैं, किसी जन्म में कोई इच्छा किसी जन्म में कोई इच्छा।

हम अल्पबुद्धि हैं। संसार के मायामोह में फंसे हुए हैं। माया ने विवेक पर पर्दा डाल रखा है और हम समझ नहीं पाते अपनी ही इच्छाओं के विरोधाभास को, इनके औचित्य अनौचित्य को। कम से कम इतना विवेक तो जागृत करें कि भगवान पर ही निर्णय छोड़ दें। वे ही समझें कि हमारे लिए क्या उचित है। वे जो दे हमें मंजूर हो।

अर्जुन ने भी अतीव लालसा के वशीभूत होकर अपनी विश्व रूप

दर्शन की मांग रखी पर अगले ही क्षण उसका उसका विवेक जाग गया- 'भगवान जैसा आपको उचित लगे वही कीजिए। यदि आपको लगता है कि मैं इस योग्य हूं तब दिखाइए।' यही समर्पण है जो भगवान को व्याकुल कर देता है।

भगवान तो अर्जुन की मांग सुनते ही आतुर हो रहे थे उसे पूरी करने। यह अर्जुन बीच में क्या-क्या बोल रहा है? 'अर्जुन देख, देख, एक क्यों मेरे सहस्त्रों रूपों को देख।'

श्री भगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ।।५।।

श्री भगवान ने कहा- हे पार्थ। मेरे सैकड़ों तथा हजारों नाना प्रकार के, नाना वर्ण और आकृति वाले दिव्य रूपों को देख।

देखी आपने भगवान की अपने भक्त के सामने प्रकट होने की आतुरता! हम कहते हैं- इतना ध्यान लगाते हैं, इतनी माला फेरते हैं, भगवान कभी स्वप्न में भी दर्शन नहीं देते। क्या हम में अर्जुन जैसा प्रेम, उस जैसी शरणागति, उस जैसी प्रभु निर्भरता है? जिस दिन हम अपनी इच्छा को पूरी तरह उसी की इच्छा में मिला पाएंगे, जिस दिन अप्रिय जान पड़ने वाली स्थिति में भी हमारे हृदय की गहराई से यही बात उठेगी कि प्रभु तेरी इच्छा ही पूर्ण हो, तेरी मर्जी ही मेरी मर्जी है, उस दिन ईश्वर दर्शन में देर नहीं रहेगी।

भगवान ने अपना रूप दिखाया। क्या वे बदल गए? क्या उनकी आकृति में परिवर्तन आ गया? एक में अनेक रूप दिखते हैं तो भेद आकृतियों का नहीं, देखने वाले की दृष्टि का होता है। जैसे हम साधारण औरतें स्वर्ण के हार, कंगन, कुंडल देखती है तो हमें वे हार, कंगन, कुंडल-विभिन्न गहने, उनकी डिजाइनें ही दिखाई देती हैं। स्वर्ण का व्यापार करने वाला विभिन्न आकृतियों में केवल स्वर्ण को देखेगा। हम सोने की गणेश की मूर्ति भी लेकर आएं तो उसे ठोक पीट कर परखने में उसे जरा भी हिचक नहीं होगी। हमारे

लिए वे गणेश देवता हो सकते हैं पर उसके लिए स्वर्ण है। यही है अनेकता में एक को देखने की दृष्टि। लेकिन इससे भी विलक्षण है एक कारीगर की दृष्टि। स्वर्ण का एक टुकड़ा देखते ही उसकी आंखों के सामने उससे बन सकने वाले हार, कुंडल, कंगन सब नाचने लगते हैं।

भगवान चाहते हैं कि इसी प्रकार अर्जुन उन्हें देख ले। युद्ध भूमि में सारथी के वेश में खड़े श्री कृष्ण अर्जुन को कहे जा रहे हैं- 'अर्जुन देखो, मुझमें देखो। तुम्हें कितनी आकृतियां दिखाई देंगी, कितने रंग दिखाई देंगे।' इस प्रकार अपने में सब कुछ देखने को जब भगवान कहते हैं तो उनका तात्पर्य यह होता है कि संसार में जो विभिन्न वस्तुएं हमें दिखलाई देती हैं उसका पदार्थ अर्थात् उपादान कारण परमात्मा ही है। जैसे स्वर्ण उपादान कारण है इसीलिए उसमें विभिन्न अलंकार देखे जा सकते हैं उसी प्रकार सारा संसार परमात्मा से ही बना है अतः उनमें सबको देखा जा सकता है।

अपने रूप की और व्याख्या करते हुए भगवान कहते हैं:-

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्ट पूर्वाणि पश्याश्चर्याणिभारत ।।६।।

हे भारत! आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, अश्विनी कुमारों एवं मरुतगणों को देख और भी बहुत से पहले न देखे हुए आश्चर्यमय रूपों को देख।

इस श्लोक में भगवान ने देवलोक के प्रणियों- आदित्य, वसु, रुद्र, मरुत, अश्विनी कुमार आदि की गणना करते हुए बताया है कि ये सब भी उन्हीं में हैं। देवताओं के नाम गिनाने से भगवान का तात्पर्य क्या है यह जानने के लिए पहले समझें कि देवता किसे कहते हैं।

हम जितनी भी क्रियाएं करते हैं उन सबके तीन पक्ष हैं- आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक। उदाहरण के लिए देखने की क्रिया को लें। देखने के लिए वस्तु सामने हो, आँखें खुली हो, ये बातें अधिभौतिक श्रेणी में आती हैं। फिर हमारा मन भी दूसरे विचारों में खोया हुआ न हो वर्ना हम देख कर भी नहीं देख पाएंगे। यह अध्यात्मिक पक्ष हुआ। सबसे आवश्यक

है नेत्रों की ज्योति। नेत्र रहते हुए भी यदि उनमें ज्योति अर्थात् देखने की शक्ति न हो तो सब कुछ व्यर्थ है। हमारी इन्द्रियों की इन शक्तियों को देवता कहते हैं। शास्त्रीय भाषा में हम कहेंगे कि आँखों का देवता नहीं है। इस प्रकार कार्य करने की जितनी भी शक्तियां हैं, उन सबके एक-एक देवता हैं। इन देवताओं के कारण ही कार्य विशेष सम्पन्न हो सकता है। आँखों के लिए प्रकाश आवश्यक है अतः सूर्य को आँखों का देवता कह दिया गया। इसी प्रकार हमारे तैंतीस करोड़ देवी देवता हैं। जब हम आंवला, पीपल, तुलसी आदि की पूजा करते हैं तो पूजा उसकी डाल, पत्ती, जड़ की नहीं होती। वृक्ष का जो औषधि तत्व है उसी को हम देवता के रूप में पूजते हैं।

पिछले श्लोक में भगवान का अभिप्राय यह था कि संसार में जितनी आकृतियां हैं उनका पदार्थ मैं ही हूं और अब यह कहना चाह रहे हैं कि उन्हें चैतन्य बनाने वाला, उन्हें शक्ति, गुण या क्षमता देने वाला भी मैं ही हूं। मेरे कारण ही जड़ पदार्थ यानि 'मैटर' से बनी आँखें देख सकती है, मेरे कारण ही जड़ पदार्थों से बना हाथ हिल सकता है। संक्षेप में- सृष्टि के रचयिता भी परमात्मा हैं, उसका पदार्थ भी वही हैं और उसकी चेतना शक्ति भी वे ही हैं।

भगवान अर्जुन से कहते हैं- ''इन सबको देखो।'' किन्तु कहां?

इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्यसचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्रष्टुमिच्छसि ।।७।।

हे अर्जुन! तुम मेरे इसी शरीर में, अभी ही, एक जगह केन्द्रित हुए समस्त चर अचर जगत को देखो। इसके अलावा और भी जो तुम देखना चाहते हो देखो।

पिछले अध्याय में भगवान ने अपनी विभूतियों का वर्णन किया था। अलग-अलग स्थान पर, अलग-अलग वस्तुओं में, भिन्न-भिन्न रूपों में हम एक परमात्मा के दर्शन करें। किन्तु अब विश्व रूप में ये सभी वस्तुएं, सभी प्राणी एक में सिमट आए हैं। भगवान कह रहे हैं कि सभी को तुम एक ही देह में देखो। तात्पर्य यह है कि अर्जुन जब नर तन धारी कृष्ण को देखे तो उसे

साढ़े पांच फुट कद की आकृति मात्र न दिखाई दे। उनमें उसे सभी कुछ दिख जाए क्योंकि भगवान केवल उस आकृति में सीमित नही हैं। उनका तादात्म्य पूरे विश्व से है। सृष्टि का तुच्छ से तुच्छ प्राणी या वस्तु भी उन्हें अपने से भिन्न लगती ही नहीं।

फिर भगवान ने आद्य शब्द प्रयोग किया है यानि अभी देखो। ईश्वर दर्शन के लिए साधना आरम्भ करनी हो तो शुभमुहूर्त या घटना विशेष की प्रतीक्षा करने की जरूरत नहीं, वर्तमान क्षण ही उपयुक्त है। इहैकस्थं और आद्य शब्दों का प्रयोग कर भगवान अर्जुन को देश-काल की सीमा से परे जाने को कह रहे हैं।

भगवान अर्जुन के लिए गुडाकेश शब्द का प्रयोग कर रहे हैं जिसका अर्थ है निद्राजयी। जिसकी बुद्धि सोती नहीं सतत् चैतन्य रहती है वही ईश्वर दर्शन का पात्र है। हम तो सत्संग में भी सो जाते हैं। भगवान कह रहे हैं, अर्जुन तुम तो निद्राजयी हो, अपनी बुद्धि को सजग रखो, जो तुम देखना चाहते हो वह सब दिखेगा। निश्चय ही युद्ध का नायक अर्जुन देखना चाहता था युद्ध का नतीजा। भगवान अब स्पष्ट दिखा देना चाहते हैं कि महाभारत के युद्ध में क्या होने वाला है।

भक्त के प्रेम में आतुर भगवान बोले जा रहे हैं- 'देखो! देखो!' किंतु अर्जुन देख नहीं पा रहा। देश काल की सीमा से परे जाने के लिए जो क्षमता चाहिए वह अर्जुन के पास है नहीं। विश्व रूप देखने के लिए दिव्य दृष्टि चाहिए। भगवान को भी याद आया कि जो अनमोल निधि मैं लुटा रहा हूँ उसे ग्रहण करने के लिए पात्र तो अर्जुन के पास है नहीं। धन्य है भगवान की प्रेम परवशता! अर्जुन का प्रेम देखा बस! उसकी सारी कमियों को भूल गए। भूल गए कि वह अभी कुछ देर पहले तक संसार के युद्ध में ही शारीरिक और मानसिक रूप में उलझा हुआ था। उसके मानस को उस स्तर से ऊपर उठाया, अपने दर्शन की इच्छा भी उत्पन्न कराई, दर्शन के लिए जो योग्यता चाहिए थी वह भी दी, दर्शन भी दिये। उनके चरणों में झुकने तक की देर है। भोग के साथ-साथ भोगने की योग्यता भी देते हैं। भोजन भी देते हैं और ऐसा स्वास्थ्य भी देते हैं कि भोजन का पूर्ण उपभोग कर सकें।

हमें तो बस जीवन में यही धारणा करनी है कि जीवन में कन्हैयालाल

से अधिक महत्वपूर्ण और कोई नहीं। संसार में रहें, सभी कार्य करें लेकिन हृदय में सबसे अधिक महत्व कन्हैया का हो तो इस संसार के बीच भी परम कल्याण का अवसर वे स्वयं प्रदान करेंगे।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ।।८।।

हे अर्जुन! तुम अपनी इन आंखों से (मेरे दिव्य रूप को) नहीं देख पाओगे, मैं तुम्हें दिव्य चक्षु देता हूं, तुम मेरा ऐश्वर्य रूप देखो।

दिव्य चक्षु के बारे में इस अध्याय की भूमिका में भी कुछ बताया जा चुका है। सबमें परमात्मा को देखने, सारे जग को सियाराम मय जानने के लिए अपार श्रद्धा और भक्ति की आवश्यकता होती है। किन्तु अनेक में इस प्रकार एक को देख लेना फिर भी सरल है, और एक परमात्मा में पूरी सृष्टि को जान लेना और भी कठिन है। विशेष दृष्टि ही ऐसा कर सकती है। एक परमात्मा में विश्व को देखने के लिए श्रद्धा-भक्ति के साथ देश, काल, स्थान की सीमा से ऊपर उठने का ज्ञान चाहिए, मोह को छोड़ कर देखने की शक्ति चाहिए। इसे ही दिव्य दृष्टि कहते हैं।

हम सब प्रतिदिन अपने चर्मचक्षुओं से नाना प्रकार की आकृतियां, रंग, रूप देखते हैं। कोई भी प्राणी एक समान नहीं। हम आंखों द्वारा देखते हैं, बुद्धि द्वारा विश्लेषण करके उनमें अंतर समझते हैं तब हमारा सांसारिक व्यवहार होता है। अर्थात् हमारी आंखें हैं प्राकृतिक वस्तुओं को देखने के लिए। देखे हुए पर चिंतन करना उसे नहीं आता। विज्ञान और अध्यात्म एक ही बिंदु- हमारी बुद्धि से आरम्भ होते हैं लेकिन दोनों की दिशाएं बिल्कुल विपरीत हैं। एक हमारे शरीर के बाहर देखता है दूसरा अंदर। इस अंदर का मतलब भी त्वचा के अंदर का रक्त, मांस मज्जा नहीं। उन्हें तो चर्मचक्षुओं द्वारा या विज्ञान के उपकरणों द्वारा देखा जा सकता है। अंदर की यह यात्रा और भी विलक्षण है। इसके लिए अन्तर्दृष्टि को साधना के द्वारा विकसित करना पड़ता है। बाहर के संसार से आंखें मूंद लेनी पड़ती है- पूरी तरह। जैसे बुद्ध ने मूंदी थी, जैसे

महाबीर ने मूंदी थी। तप से दृष्टि बदल जाती है। सारा जगत आनंद स्वरूप हो जाता है जबकि साधारण व्यक्ति को माया-मोह के कारण यह जगत दुख: का सागर जान पड़ता है।

साधारण व्यक्ति की दृष्टि मान-अपमान पर होती है लेकिन महात्माओं की दृष्टि संसार की इन बातों पर जाती ही नहीं। कोई उन्हें पूजे या आलोचना करे, उनकी मस्ती में कोई अंतर नहीं पड़ता। ऐसे संतों की दृष्टि को ही दिव्यदृष्टि कहते हैं। ऐसी दृष्टि से ही परमात्मा के विश्वरूप का दर्शन होता है। मिट्टी और सोना एक नजर आने लगे इसके लिए देखने का ढंग, सोचने-विचारने का तरीका बदलना होता है। बड़ी साधना चाहिए इसके लिए। बड़ा तप करना होता है। शरीर को जलाना पड़ता है।

किन्तु अर्जुन ने तो ऐसा कोई तप नहीं किया। उसने तो बस श्री कृष्ण से प्रेम किया था। प्रेम ने ही उसके लिए दृष्टि सुलभ करा दी। वैसे देखें तो प्रेम करना भी तप ही है। साधारण तप में शरीर जलता है, प्रेम में तो मन, प्राण जलते हैं। तप और प्रेम में अंतर यह है कि तप करने वाला सोचता है मैं कोशिश करके पा लूंगा। प्रेम करने वाला सोचता है मेरी कोशिश से कुछ नहीं होगा। जो तुम करोगे वही होगा, वही हमें मंजूर है। इसका मतलब यह नहीं कि वह कुछ करता ही नहीं। वह कर्म करता अवश्य है किन्तु श्रेय भगवान को ही देता है, फल को उनकी इच्छा मान कर स्वीकार करने को तैयार रहता है। अर्जुन ने कभी नहीं सोचा कि निहत्थे कृष्ण को लेकर मैं हार गया तो?

हममें और अर्जुन में यही अंतर है। हम या तो कर्म को ही छोड़ देते हैं- भगवान मैं तो कुछ नहीं कर सकता, जैसी तुम्हारी मर्जी है वही कर लो। या हम करते हैं तो फल का आग्रह रखते हैं- भगवान, इतनी मेहनत की है तो अमुक काम तो होना ही चाहिए। दोनों में ही प्रेम अधूरा है, समर्पण झूठा है। यदि हम वह कर सकें जो अर्जुन ने किया तो हमारे साथ भी वही घटित हो सकता है जो अर्जुन के साथ हुआ। हमारी आंखों में भगवान के दर्शन की क्षमता ही नहीं। आंखें दर्शन तो नहीं कर सकती हैं लेकिन आंखें दर्शन के लिए प्यासी तो हो सकती हैं। फिर दर्शन तो उनकी कृपा से होता है। भगवान ने ऐसे प्रेम और प्यास के वशीभूत होकर अर्जुन को वह दृष्टि

दे दी जिससे सम्पूर्ण विश्व को एकीभूत करके देखा जा सकता है। इसके बाद दृश्य बदल जाता है। भगवान वेदव्यास जी हमें वहां ले जाते हैं जहां संजय बैठकर धृतराष्ट्र को सारा हाल सुना रहे हैं।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शायामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ।।९।।

संजय ने कहा- 'तब ऐसा कह कर महायोगेश्वर हरि ने पार्थ को अपना परम ऐश्वर्य रूप दिखाया।

संजय ज्ञानी थे। उन्हें भगवान श्री कृष्ण के परमात्म रूप में जरा भी शंका नहीं थी। वे अर्जुन की भांति मोह भ्रम में भी नहीं पड़े हुए थे कि वस्तुस्थिति का सही आकलन न कर सकें। धृतराष्ट्र उनके स्वामी थे लेकिन उनके लिए उन्होंने एक मामूली सा सम्बोधन चुना है- 'राजन्,' जबकि श्री कृष्ण के लिए उन्होंने 'महायोगेश्वर हरि' शब्द का व्यवहार किया है। इस हरि शब्द के व्यवहार में भगवान का विश्वरूप दिखाने का उद्देश्य निहित है।

हरि का अर्थ है हरने वाला। बंदर को हरि इसलिए कहते हैं क्योंकि हम कुछ भी रखें वह तुरंत उसका हरण कर ले जाता है। भगवान भी हरण करते हैं, किन्तु वस्तुओं का नहीं। वे हमारे अहंकार का हरण करते हैं। उनके सामने अपनी वासनाओं को रखने भर की देर है, वे तुरंत चुराकर ले जाते हैं। जन्मजात चोर हैं वे। उनकी माखन चोरी बड़ी रहस्यपूर्ण है। दही में मथनी डाल कर देर तक उसे दाएं-बाएं घुमाया जाता है तब धीरे-धीरे मक्खन तैयार होता है। वह ऊपर तैरने लगता है। उस मक्खन को निकाल कर ब्रज की गोपियां जब रखती थीं तो कृष्ण आकर उसे चुरा ले जाते थे। यही हमारे जीवन की गाथा बन सकती है। संसार के अनुभवों के बीच हमारे विचारों का मंथन होता है। फलस्वरूप कुछ वासनाएं- किसी के प्रति राग, किसी के प्रति द्वेष, किसी से प्रेम, किसी से घृणा आदि घनीभूत होते रहते हैं। हम यदि इन वासनाओं को भगवान के लिए अलग करके रख सकें तो देखिएगा कितनी जल्दी वे चुराकर ले जाएंगे। वे तो कहते हैं- मुझे धन-दौलत कुछ नहीं चाहिए। मैं तो

गोपियों के माखन का यानी भक्त की वासनाओं का भूखा हूं। मुझे भक्त की वासना चाहिए।

कृष्ण के जीवन का व्रत ही था वासनाओं का हरण। इन्हीं वासनाओं के कारण ही हमें मोह और मति भ्रम होता है। इसीलिए हमें दुख का भागी होना पड़ता है। अर्जुन को भी मोह हो गया था जिसके कारण उसकी बुद्धि ने सही-सही काम करना बंद कर दिया मैं, मेरे स्वजन, मेरे बंधु-बांधव, राज्य आदि के चक्कर में पड़ कर वह विषादमग्न हो गया था, तब उसने भगवान से कहा था, 'हे भगवान! मेरी बुद्धि में मोह के कारण दोष आ गया है अत: मुझे समझ में नहीं आ रहा कि मुझे क्या करना चाहिए। हे भगवान! अब मैं अपनी बागडोर आपके सौंपता हूं। मुझे अपना शिष्य बना कर मेरा भ्रम दूर कीजिए ताकि मैं विषाद से मुक्त होकर अपने कर्त्तव्य का पालन सकूं।' इस प्रकार मंथन से उत्पन्न मोह को उसने भगवान के सामने रखा और भगवान ने उसे हरा। शब्दों द्वारा काफी प्रयत्न के द्वारा भी मोह पूर्ण रूप से दूर नहीं हो रहा था तब यह विश्वरूप दिखाया, फिर और बहुत सी बातें बताईं। अंत में अर्जुन ने स्वयं कहा- 'हे अच्युत, आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे स्मृति प्राप्त हुई है।'

इस प्रकार हम दखते हैं कि गीता का प्रयोजन ही था अर्जुन के मोह को दूर करना। अत: संजय जब कहते हैं कि महायोगेश्वर हरि ने अपना विश्व रूप दिखाया तो स्पष्ट हो जाता है कि विश्व रूप दिखा कर वे अर्जुन के मोह का हरण कर उसका संताप दूर करना चाहते थे। इसके बाद हरि के ऐश्वर्यपूर्ण रूप का वर्णन करते हुए संजय कहते हैं:-

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ।।१०।।

भगवान ने जो विश्व रूप दिखाया उसके अनेक मुंह और आंखें थीं, वह देखने में अद्भुत था, अनेकों आभूषणों और अनेकों दिव्य आयुधों से युक्त था।

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ।।११।।

अनेक मालाएं धारण की हुई थी, दिव्य सुगन्ध निकल रही थी, वह रूप हर दिशा में मुख लिए हुए था एवं सर्व आश्चर्यों से युक्त था।

संजय ने भगवान के विश्व रूप का जो चित्र खींचा है उससे साधारण आंखों के सामने तो वह चिर-परिचित चित्र ही उभरता है जिसे भारत में तस्वीरों की हर दुकान पर पाया जा सकता है। हमें भगवान ने अर्जुन की भांति दिव्य दृष्टि दी तो नहीं है फिर भी हम चर्मचक्षुओं की सीमा से गहरे उतरने का प्रयास करेंगे।

विश्व रूप का ऐसा वर्णन देकर संजय परमात्मा की सर्वव्यापकता बताना चाह रहे हैं। यह रूप स्थान, काल तथा दिशाओं के सीमा में बंधा हुआ नहीं है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का स्वरूप है। इसे नाप या गिनती के द्वारा नहीं समझ सकते क्योंकि यह नाम रूप आकार से परे है। स्वर्ण को तत्व के रूप में समझने की कोशिश में जब उसका रंग, रूप, ठीक-ठीक समझ नहीं आता तो विद्यार्थी को बहुत सारे गहने दिखाए जाएं और बताया जाए कि इन विभिन्न नाम रूपों के पीछे जो एक तत्व है उसे स्वर्ण कहते हैं तब विद्यार्थी को समझने में आसानी होगी कि स्वर्ण से कितने बारीक तार खींच कर कितने विभिन्न रूप दिए जा सकते हैं और जब चाहें उन्हें मिटा कर रूपों को बदला भी जा सकता है।

यहां अनेक मुख, अनेक नयन, दिव्य-मालाएं, दिव्य आभूषण, दिव्य आयुध, दिव्य गंध आदि को जब विश्व रूप का अंग बताया जा रहा है तो प्रयोजन हमारी बुद्धि को यह बताना है कि इन सबके पीछे जो तत्व है उसे पकड़ने का प्रयत्न करना चाहिए। सभी आयुध, गंध, मालाएं इत्यादि जो वस्तुएं हैं वे रूप, रंग, गुण आदि में एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न है वह सब उसी परमात्मा की शक्ति है जो जड़ चेतन में समान रूप से एक साथ व्याप्त है।

मुख से हम खाते हैं, आंखों से हम देखते हैं, भगवान यहां अर्जुन को प्रत्यक्ष दिखा रहे हैं कि सबके मुख से वास्तव में वे ही खा रहे हैं, सबकी आंखों से वास्तव में वे ही देख रहे हैं। हम तो व्यर्थ ही कर्तापन का अभिमान

ढोते फिरते हैं। हम अपने को परमात्मा से अभिन्न मान पाएं तो सारे झंझट ही मिट जाएं। सत्य यही है, किन्तु अर्जुन भी मात्र शब्दों द्वारा इस रहस्य को पूर्ण रूप से समझ नहीं पाया था। हमें भी यह अद्‌भुत वर्णन केवल शब्दों से जानकर छोड़ नहीं देना चाहिए। इसे पाने के लिए साधना करें।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्‌भासस्तस्य महात्मनः ।।१२।।

यदि एक साथ आकाश में हजार सूर्य निकल जाएं तो उनका प्रकाश उस महात्मा के प्रकाश जैसा ही होगा।

भगवान के विश्व रूप में केवल पदार्थ से बनी वस्तुएं, प्राणी ही नहीं, अद्‌भुत तेज भी है मानो हजारों सूर्य आकाश में एक साथ निकले हों। हमें तो एक ही सूर्य इतनी प्रखरता के साथ दिखाई पड़ता है कि हम उसके तेज को सह नहीं पाते। हम जानते हैं कि इस विशाल ब्रह्मण्ड में ऐसा एक ही सूर्य नहीं, हजारों-लाखों सूर्य हैं। विभूति के हिसाब से कहें तो हम यह कहेंगे कि इन हजारों सूर्यों का तेज भगवान का ही तेज है और विश्व रूप के दर्शन के हिसाब से कहें तो हम यह कहेंगे कि सारे सूर्य अपने समस्त तेज के साथ एकीभूत हो गए हैं। कल्पना करें कि वह तेज कैसा होगा?

ऐसे ही थोड़ी देर यदि धूप में रहें या सूर्य की ओर दृष्टि करके कुछ देर देखें तो आंखें ऐसी चौंधिया जाती हैं कि दूसरी कोई वस्तु दिखाई नहीं देती। घर के अन्दर तो एकदम अंधेरा मालूम होता है। विश्वरूप के अद्‌भुत तेज को देखने के बाद संसार की वस्तुएं नजरों में आएंगी? अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नायक की महत्ता जान लेने के बाद संसार महत्वपूर्ण लगेगा? इसीलिए ब्रह्म ज्ञानी संत-महात्मा संसार के बीच रहकर भी संसार में रमते नहीं। सारे विषयों के प्रति उदासीन होते हैं। उन्हें मानो कुछ दिखता नहीं। वह अनुपम प्रकाश उनके अन्तःकरण में समाया जो होता है। उनकी आंखें तो उसी प्रकाश को देख कर पुलकित होती रहती हैं।

गीता के इस श्लोक में एक दिलचस्प बात है। अणु बम के

आविष्कारक जर्मन वैज्ञानिक ओपेन हाइमर ने गीता का मूल रूप में अध्ययन किया था। अणु बम के प्रथम परीक्षण में ऐसा विशाल ज्योतिपुंज ब्रह्माण्ड में छाया कि अपने ही द्वारा निर्मित महाशस्त्र की भीषण शक्ति से ओपन हाइमर स्तंभित हो उठे। अनायास ही उन्हें गीता का यही श्लोक याद आ गया। शीघ्र ही इस ज्योति का रूप विकराल हो गया जैसा कि आगे हम विश्व रूप में भी देखेंगे। ऐसा लग रहा था कि यह ज्योति सम्पूर्ण विश्व को अपनी दैत्याकार लपटों में आवृत्त कर देगी। ओपेन हाइमर को पुनः इस अध्याय का बत्तीसवां श्लोक याद आया। अर्जुन ने भगवान का विशाल रूप को देख कर घबराते हुए पूछा था- 'आप कौन हैं' और भगवान ने कहा था- 'कालोस्मि लोकक्षय कृतप्रवृद्धो- लोकों का नाश करने को प्रवृत्त महाकाल हूं मैं।

लेकिन भगवान अणुबम मात्र नहीं हैं। इससे भी अधिक बहुत कुछ हैं। ओपेन हापइमर जितने अचंभित, चकित, स्तंभित और विस्मित हुए उससे कहीं अधिक विस्मित अर्जुन है।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ।।१३।।

उस समय अर्जुन ने अनेक भागों में विभक्त सम्पूर्ण जगत को देवों के देव भगवान के शरीर में एक जगह स्थित देखा।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ।।१४।।

तब विस्मय से भरे रोमांचित अर्जुन ने सर झुका कर भगवान को प्रणाम करते हुए हाथ जोड़ कर कहा-

अर्जुन को दी हुई दिव्य शक्ति अब काम आ गई। समय और स्थान की सीमा से मुक्त होकर उसने भगवान का विश्व रूप देखा। अभी तक विश्व उसके लिए अनेकों भागों में विभक्त था। जड़ पदार्थों का जगत था, प्राणियों का जगत था उसमें भी पशुओं का, पक्षियों का, मनष्यों का अलग-अलग

जगत मालूम देता था, देवताओं का, राक्षसों का, नागों का जगत अभी तक उसने भिन्न-भिन्न माना है। अब उसे इनमें अलग-अलग परमात्मा नहीं नजर आया बल्कि सब मिलकर एक हो गए, बीच में कोई स्थान नहीं जो उनको विभक्त कर सके, सब मिलकर बहुत से भगवान नहीं दिखे, एक ही विराट् विशाल आकृति है।

ये सारे प्राणी उड़ कर एक पास तो आए नहीं कि एक हो जाएं। यह तो चर्म चक्षुओं का अभ्यास है जो ऐसी कल्पना खड़ी कर लेता है। वास्तवकिता तो यह है कि अर्जुन को परमात्मतत्व का ज्ञान हो गया। एक ही परमात्मा सम्पूर्ण विश्व में है और एक ही परमात्मा में सम्पूर्ण विश्व है। इसका उसे पूरा अनुभव होने लग गया। उसे प्रत्यक्ष जान पड़ा कि एक ही परमात्मतत्व की शक्ति से वह कार्य करता है। परमात्मा देवों के देव अर्थात् शक्तिमानों की शक्ति हैं।

ऐसा अद्‌भुत अनुभव अर्जुन को कभी कल्पना में भी नहीं हुआ था। वह विस्मय से भर उठा। रोमांच से उसके रोएं खड़े हो गए। अगाध श्रद्धा से उसके हाथ स्वत: ही जुड़ गए। अनुपम महत्ता देख कर उसका सर स्वत: ही झुक गया।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

हे देव मैं आपके शरीर में देवताओं तथा प्राणियों के सभी समुदायों को देखता हूं। साथ ही कमल आसन पर विराजित ब्रह्मा जी, ऋषियों तथा सभी दिव्य सर्पों को भी देखता हूं।

इस श्लोक में विस्मित रोमांचित अर्जुन वही कह रहा है जो संजय धृतराष्ट्र को बता चुके हैं। उन्होंने नाना वर्ण, नाना आकृति, देव, मरुत् आदि शब्दों का व्यवहार किया था। यहां भी अर्जुन कह रहा है 'हे देवों के देव, मैं आप में सबको देख रहा हूं। कमल आसन पर बैठे ब्रह्मा जी, विभिन्न प्राणी,

ऋषि मुनि तथा दिव्य सर्प भी।

यहां ब्रह्मा जी, प्राणी तथा ऋषि, और सर्प ये तीन विभिन्न लोकों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ब्रह्मा जी तो सृष्टि के रचयिता हैं उन्हें हम सबसे ऊंचे लोक में स्थापित करते हैं, उसे ब्रह्मलोक कहते हैं। ऋषि मुनि तथा अन्य भूत पृथ्वी लोक के प्राणी हैं तथा सर्प पाताल लोक के। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म लोक से लेकर पाताल लोक तक सभी कुछ एक में ही समाया हुआ है। ब्रह्माण्ड के ये अलग-अलग दिखने वाले रूप एक परमात्मा के ही विभिन्न अंग हैं।

प्राणी परमात्मा द्वारा रच कर छोड़ दी गयी मात्र कोई वस्तु नहीं बल्कि परमात्मा का अभिन्न भाग है। यह विचार बड़ा महत्वपूर्ण है। सृष्टि भगवान की रचना नहीं भगवान ही है। हमारा अनुभव बताता है कि रचनाकार रचना से भिन्न होता है लेकिन हमारी इन ज्ञानेन्द्रियों का अनुभव यहां काम नहीं आ सकता। रचना और रचनाकार एक ही हैं।

अब जरा देखें कि इस विचार से हम में क्या फर्क आएगा। हम अपने हाथों से कोई वस्तु बनाते हैं तो निःस्संदेह हमें बहुत प्यारी होती है। पर क्या यह प्रेम उतना हो सकता है जितना हमें अपने स्वयं के अंगों से होता है? वस्तु के प्रति प्रेम में संदेह भी हो सकता है, हो सकता है बनाने के बाद हमें पसन्द न आई हो, या किसी ने गन्दी कर दी हो। लेकिन अंगों के प्रेम में तो कहीं संदेह की गुंजाइश ही नहीं। भले दांत सेव के बदले हमारी जीभ ही काट डाले, हमारा कोई अंग हमारी सेवा करने के बदले पीड़ा का कारण बन जाए- हमें कोई फर्क नहीं पड़ता। हम उस पर गुस्सा नहीं करते, उसे कष्ट देने की नहीं सोचते। पैर अपनी भूल से मोच खा जाए और दर्द होने लगे तो बात और है हम उसे दर्द देने या सजा देने की बात सोच भी नहीं सकते। हमारे अंग हमारी रचना नहीं, हम ही हैं। यह संसार भगवान की रचना नहीं, उनका अंग है। यदि हम साधारण इंसान अपने अंगों से बहुत प्रेम कर सकते हैं तो उसके प्रेम की थाह कैसे लगा पाएंगे जो प्रेम का अनन्त भण्डार है। जिस अनन्त प्रेम राशि के अणु से छोटे, नगण्य अंश को प्राप्त करके हम अपने आप को सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानते हैं वह भण्डार कितना विशाल होगा। ऐसे प्रेममय भगवान के लिए हम सोच लेते हैं- वह हमें दुख

देता है। दुख तो हम स्वयं अपनी करनी से पैदा करते हैं, वहां तो केवल करुणा है– सृष्टि के छोटे से छोटे, तुच्छ से तुच्छ प्राणी के लिए अत्यन्त करुणा।

अपने हर अंग की पीड़ा हमें समान कष्ट देती है। हमारा दायां हाथ बाएं से अधिक उपयोगी है या हमारी मध्यमा कनिष्ठा से बड़ी है– हमारे लिए कोई अन्तर नहीं। अपनी दृष्टि का विचार करेंगे तो हम पाएंगे कि हमें अपने अंग जितने प्रिय हैं उतने ही प्रिय हैं भगवान के लिए किसी देश का प्रधानमंत्री, साधारण नागरिक और मिट्टी में रेंगता एक कीड़ा। क्योंकि सभी उसके ही अंग हैं।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।।१६।।

हे विश्वेश्वर, मैं सब ओर आपका अनन्त रूप देखता हूं जिसका न आरंभ है, न मध्य, न अंत। मैं आपके विश्वरूप में अनेकों भुजाएं मुख, पेट तथा आंखें देखता हूं।

जैसे कलाकार कोई चित्र बनाता है तो पहले बाहरी लकीरें खीच कर एक आकृति बनाता है। फिर उसके अंदर और सूक्ष्म विवरण डालता है अर्थात् आंख, नाक आदि बनाता है। इसी प्रकार वेद व्यास जी इस अनन्त वैभवमय रूप का चित्र शब्दों द्वारा अंकित कर रहे हैं। पिछले श्लोक में उन्होंने बताया कि विराट् रूप में क्या-क्या दिखलाई पड़ा। इस श्लोक में बता रहे हैं कि वह कैसा है।

विराट् रूप में अर्जुन को असंख्य अंग नजर आए। उसे अनेकों भुजाएं, मुख, पेट तथा आंखें दिखाई दी। तात्पर्य यह है कि सारी सृष्टि के सभी प्रणियों और देवों के पीछे तो वही एक परम सत्य है ही, हर अंग की काम करने की शक्ति भी वही परम सत्य है। वह प्राणी ही नहीं, उसकी भुजा भी है, मुख भी, उदर और नेत्र भी। या यों कहें कि प्राणी के अन्त:करण में ही परमात्मा नहीं, उसके अंग-अंग में भी एक ही परमात्म तत्व है। उसकी कर्म शक्ति भी वही है और भोग शक्ति भी।

बाहु का अर्थ है हाथ, अर्थात् वह अंग जिससे हम कर्म करते हैं। विराट् रूप में जब अर्जुन को सम्पूर्ण विश्व के हाथ दिखाई देते हैं तो उसका अर्थ यह है कि सम्पूर्ण विश्व की कर्म शक्ति परमात्मा ही है। मुख और नेत्र के द्वारा हम लोग भोग भोगते हैं। पेट में खाया हुआ अन्न समाता है। विश्व के सारे मुख, सारे नेत्र, सारे पेट अर्जुन को विराट् रूप में दिखलाई देने लगे अर्थात् उसे यह ज्ञान हो गया कि सारी सृष्टि का कर्ता भी वही है और भोक्ता भी वही है। सृष्टि का परम सत्य एक ही है और उसका न कोई आदि है न अंत। जब आदि अंत स्पष्ट नहीं है तो मध्य भी नहीं हो सकता।

इस प्रकार विराट् आकृति में अंग चित्रित करने के बाद वेदव्यास जी उसे आभूषण पहनाते हैं।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ।।१७।।

मैं आपको किरीटि, गदा, चक्र के साथ देखता हूं। आप चारों ओर तेजपुंज की भांति दीप्त हो रहे हैं। अग्नि और सूर्य की भांति दीप्त होने के कारण आपको देखना और समझना कठिन जान पड़ता है।

पिछले श्लोक में अर्जुन ने विराट् रूप में ब्रह्मा जी का वर्णन किया था जो सृष्टि के रचयिता माने गए हैं। इस श्लोक में विष्णु के रूप का वर्णन है जो सृष्टि के पालक हैं। मुकुट, गदा, चक्र आदि भगवान विष्णु के स्वरूप की याद दिलाते हैं। तात्पर्य यह है कि परम तत्व आत्म रूप में केवल प्रणियों या देवताओं में नहीं बल्कि तीनों देव ब्रह्मा, विष्णु, महेश में वही हैं। तीनों में कोई भिन्नता नहीं है। उनमें जो भिन्नता नजर आती है वह उनके कार्यों के विभाग के अनुसार शास्त्रों द्वारा आरोपित की गई है। सृष्टि का निर्माण पालन और संहार, फिर नवनिर्माण, पालन, संहार का चक्र सतत् चलता रहता है। ये तीन अलग-अलग कार्य एक ही ब्रह्म के द्वारा प्रतिपादित होते हैं अतः हमने ब्रह्म के तीन स्वरूप ब्रह्मा, विष्णु, महेश मान लिए। जैसे अलग-अलग भूमिकाओं में एक ही व्यक्ति होता है पर आफिस में बॉस कहलाता है, घर में पापा। ये दो उसके भिन्न-भिन्न नाम हैं। हमारे शास्त्रों में जिनके स्वरूपों का

वर्णन है सब प्रतीकात्मक हैं। भिन्न-भिन्न स्वरूप तो बुद्धि की संकीर्णता के कारण नजर आते हैं। एक मछली यदि ईश्वर के स्वरूप की कल्पना करेगी तो निस्संदेह वह एक अत्यन्त विशाल मछली ही होगी। एक भैंस के लिए भगवान एक अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट भैंस ही होंगे। इसी प्रकार जब हम अपनी संकुचित बुद्धि द्वारा ब्रह्म की कल्पना को मूर्त रूप देने का प्रयास करते हैं तो एक परम तेजस्वी पुरुष की तस्वीर ही आ जाती है। मुकुट तेजस्विता और संसार के प्रत्येक प्राणी पर परमात्मा के प्रभुत्व का प्रतीक है।

विष्णु भगवान के चार हाथों में कमल, शंख, गदा और चक्र होते हैं। इनके द्वारा भी विभिन्न गुणों की मूर्तिमान किया गया है। कमल शांति-आनन्द और मंगल का प्रतीक है जो कि ब्रह्म का मूलभूत स्वभाव ही है। किन्तु वह केवल हंसी खुशी, सुख शांति ही नहीं बिखेरता। अन्तरात्मा की आवाज हमें अपने कर्त्तव्यों के प्रति सचेत भी करती है। शंख कर्त्तव्य की इसी पुकार का प्रतीक है और यदि हम इस पुकार अनसुनी कर देते हैं तो भगवान के हाथ की गदा देख लें। हमें सजा देना और कर्त्तव्य की राह पर चलाना भी उनका एक काम है। लेकिन जब साधारण सजा से हम सुधरते नहीं और मानव मानव का शत्रु बन जाता है तो हमारा ही अनुभव बताता है कि समाज पर कैसा कहर बरसता है। तूफान, अकाल, उपद्रव, युद्ध और विनाश का तांडव मचता है जिसमें सामूहिक नरसंहार होता है। सुदर्शन चक्र इसी का प्रतीक है, क्योंकि जब स्थिति अत्यंत बिगड़ चुकी हो तो रिपेयर के स्थान पर पूरी तरह नष्ट कर नये सिरे से बनाने में ही समझदारी है। पौराणिक कथाओं में हम यही पाते हैं कि सुदर्शन चक्र का उपयोग भगवान घोर अत्याचार तथा पाप के संहार के लिए ही करते हैं।

अर्जुन कहता है कि आप तेजपुंज हैं। आपका उज्ज्वल प्रकाश चारों ओर दीप्त हो रहा है। ऐसा लगता है कि अग्नि और सूर्य एक साथ धधक रहे हैं। आपको देखना भी कठिन है। आप अप्रमेय हैं। ये पंक्तियां परमात्मा की महिमा का वर्णन करती है। पहले तो हम देखें कि विराट् रूप को प्रकाश पुंज बताने का क्या अर्थ है। प्रकाश वह है जिसके कारण हम किसी वस्तु को देख सकते हैं। यह देखना केवल आंखों का ही नहीं होता। जब हम किसी बात को ठीक-ठीक समझ नहीं पाते तो कहते हैं- आप इस वाक्य पर और

प्रकाश डालिए ताकि मैं समझ पाऊं। यहां प्रकाश डालने से तात्पर्य यह है कि आप इस प्रकार बताइए कि मेरी बुद्धि में बात आ जाए। हमारी देखने, सुनने, जानने, समझने की शक्ति है आत्मा। आत्मा न हो तो शरीर में आंखें, कान, ब्रेन सभी कुछ रहेगा पर दिखाई कुछ नहीं देगा, समझ कुछ नहीं आएगा मानो प्रकाश न हो। इस प्रकार प्रकाश और आत्मा का साम्य है अतः हम कह सकते हैं कि सम्पूर्ण विश्व का प्रकाश परमात्मा ही है यानी वह प्रकाशपुंज है। चूंकि इस प्रकाश को पूंजीभूत रूप में समझना बहुत कठिन है अतः अर्जुन कह देता है कि आप अप्रमेय हैं। आपको देखना भी मुश्किल है। अप्रमेय परमात्मा को मन बुद्धि से समझना मुश्किल ही नहीं असंभव है। इसके लिए तो सब सहारे छोड़ पडते हैं, मन, बुद्धि को भी छोड़ना पड़ता है। उनके धरातल से ऊपर उठने पर ही परमात्मा के सत्य स्वरूप को जाना जा सकता है।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वरस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ।।१८।।

आप अक्षर, अव्यय, सनातन परम पुरुष हैं जो जानने योग्य हैं। आप विश्व के परम निधान तथा शाश्वत धर्म के रक्षक हैं।

अभी तक तो बार-बार भगवान अपने मुख से कह रहे थे, 'अर्जुन मैं अक्षर हूं, अव्यय हूं, परम पुरुष हूं, वेदितव्य हूं, परम निधान हूं।' उन्होंने बार-बार ये बातें कहीं थी। पर अर्जुन ने अब जा कर इन बातों को दुहराया है। इसे कहने के ढंग से परिलक्षित होता है कि अर्जुन ने अब स्व-अनुभव से कहा है। शिक्षक एक बात कहे और उसे याद रखने के लिए विद्यार्थी दुहराए, वह बात यहां नहीं है। यह तो शिक्षक से सैद्धांतिक ज्ञान प्राप्त करने के बाद प्रयोग द्वारा अपनी आंखों से देख कर कहा गया व्यक्तव्य जान पड़ता है। भगवान के दिखाने पर अर्जुन ने सब अनुभव कर लिया है।

इस श्लोक में भगवान के लिए एक शब्द आया है शाश्वत धर्म गोप्ता। वैसे तो मनुष्य क्या किसी भी प्राणी का धर्म बहुआयामी होता है। जैसे लड़के का धर्म माता पिता की आज्ञा मानना भी है, गुरु का आदर करना भी, मन लगाकर पढ़ना भी। शरीर के स्वास्थ्य का ध्यान रखना भी उसका धर्म है।

लेकिन इन सबसे परे एक शाश्वत धर्म होता है। जो भी वस्तु व्यक्ति या प्राणी जिस काम के लिए बना है वह उसका शाश्वत धर्म है। शाश्वत धर्म के बिना वह प्राणी अस्तित्व में हो कर भी न होने जैसा है। धर्म से ही किसी के गुण स्वभाव आदि का परिचय मिलता है। जैसे चीनी का धर्म है मिठास। कैंची का धर्म है काटना। चीनी मिठास घोलने के लिए ही बनी है। कैंची कपड़ा काटने के लिए बनी है। यदि वह कपड़ा न काटे तो हम कहेंगे-'यह भी कोई कैंची है?' तात्पर्य यह है कि उद्देश्य पूरा न कर सके तो कोई वस्तु वस्तु नहीं रह जाती। भगवान ने जो सृष्टि बनाई है उसमें प्रत्येक प्राणी का कुछ न कुछ धर्म है। प्रकृति की सभी वस्तुएं और प्राणी उस धर्म का पालन कर रहे हैं। कोई विपरीत नहीं जाता, जा ही नहीं सकता क्योंकि परमात्मा उनके धर्म का रक्षक है। अग्नि ने कभी किसी का ठंडा नहीं किया। जल ने कभी किसी का प्यास नहीं जगाई। अन्न ने कभी किसी की भूख नहीं बढ़ाई।

किंतु प्रकृति का सिरमौर कहलाता है मानव। इसके संबंध में एक विशेष बात है। जैसे बड़े ओहदे पर काम करने वाले अधिकारी को काम काज से संबंधित बहुत से निर्णय लेने की छूट मिली रहती है उसी प्रकार मानव को भी बड़ा कार्य करना है। मानव से देव बनना है अत: इसे स्वतंत्र निर्णय की कुछ छूट मिली हुई है। उत्थान के लिए मिला इसका यही विशेषाधिकार कभी-कभी पतन का कारण बन जाता है। वह भूल जाता है कि उसका धर्म क्या है अर्थात् वह इस विश्व में क्यों आया है। वह धर्म से च्युत होता है तो अन्य वस्तुओं के धर्म को भी अधर्म का रूप दे देता है। तलवार किसी असहाय की रक्षा करने के बदले निर्दोष को मौत के घाट उतारने लगती है। अग्नि भोजन पकाने के स्थान पर गांव के गांव जला डालती है। चारों ओर हाहाकार मच जाता है, लोग घर से बेघर हो जाते हैं। इन सारे विनाश की जड़ वस्तुओं यानी तलवार, अग्नि या बंदूक का अपने धर्म से विमुख होना नहीं होता बल्कि मानव का धर्म से विमुख होना होता है।

मानव पशु नहीं है जो केवल अपना पेट पालने और बच्चे पैदा करने के लिए इस जगत में लाया गया है। वह तो परस्पर प्रेम कर, वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना के साथ कार्य करते हुए सृष्टि के विकास को चरम सीमा पर

ले जाने बना है। मानव का धर्म अपनी वासनाओं का क्षय कर नर से नरायण बनना है, पशु बनना नहीं। वह जब धर्म से विमुख हो उठता है तो प्रकृति भी चीत्कार करने लगती है और तब भगवान को धर्म की स्थापना के लिए इन दुष्टों का संहार करने अवतीर्ण होना पड़ता है। भगवान ने स्वयं दूसरे अध्याय में कहा था कि जब-जब धर्म की ग्लानि होती है तब-तब मैं धर्म की स्थापना के लिए अवतार लेता हूं। महाभारत काल में भी यह स्थिति आ गई थी और भगवान ने इसी लिए जन्म लिया था। किंतु अर्जुन ने उनके इस कठोर रूप को पहचाना नहीं था। उसके लिए तो श्री कृष्ण परम सहृदय, सदा हंसते रहने वाले सखा ही थे। अब उसे उनके स्वरूप के इन पक्ष का ज्ञान होना आरंभ हुआ है। यह श्लोक तो उसकी भूमिका मात्र है। आगे वह और उग्र रूप देखेगा।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ।।१९।।

मैं देखता हूं कि आपका न कोई आदि है न मध्य और न अन्त। आपकी वीरता अनन्त है, आपकी भुजाएं अनन्त हैं। सूर्य और चन्द्र आपके दो नेत्र हैं। आपके मुख से निकली अग्नि पूरे विश्व को तपा रही है।

जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो उसकी सीमा पर नजर पड़ती है। वह कहां से शुरु हुई, कहां खत्म हुई। किंतु जिसका आकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को घेरे हुए है उसका कोई ओर छोर कैसे जान सकता है? और फिर जब आदि और अंत का नहीं तो मध्य का नाप भी नहीं हो सकता। हमारी आंखें निश्चित आकार ही देख सकती हैं, अतः अनादिमध्यान्तमनन्त कह कर वेदव्यास जी यह बताना चाहते हैं कि भगवान को इन चर्म चक्षुओं से देखा नहीं जा सकता। भगवान के विराट् रूप का प्रचलित चित्र हम चर्म चक्षुओं से देखते हैं। कलाकार ने इस अनन्त रूप के प्रतीकों को कैनवस पर उतारने का जो प्रयत्न किया है वह भ्रम भी पैदा करता है।

शाब्दिक अर्थ लेकर स्थूल बुद्धि द्वारा बनाए गए इस चित्र में एक विशाल मानव है जिसके दोनों ओर बहुत सारे सिर, बहुत सारी भुजाएं हैं। इसके मुख से अग्नि की लाल लाल लपटें निकलती हुई दिखाई गई है क्योंकि

अर्जुन ने यहां लपटों का जिक्र किया है। शब्दों वाला यह चित्र यदि वास्तविक होता तो इस विराट् रूप की एक आंख सूर्य और एक आंख चन्द्रमा बड़ी ही हास्यास्पद होती। सूर्य और चन्द्र तो ताप और शीतलता के प्रतीक है। साथ ही सूर्य मौलिक प्रकाश का और चंद्रमा परावर्तित प्रकाश का प्रतिनिधित्व करता है और दोनों मिलकर ब्रह्माण्ड के पूर्ण प्रकाश के प्रतीक हैं जो नारायण का ही है। इसी प्रकार से भोजन पकाने का काम अग्नि करती है जिसे हम मुख से खाते हैं। भोजन और उसके रसास्वादन के मूल अग्नि को अर्जुन ने विराट् रूप में देखा। इसके अलावा जीभ ही वाणी की इंद्रिय है। हम कहते हैं कि अमुक की वाणी तो आग उगलती है तो इसका तात्पर्य यह होता है कि उसके शब्द इतने प्रभावशाली हैं कि गहरा असर डालते हैं। लेकिन हमारे कलाकार ने यह पढ़कर उस विराट् पुरुष के मुख में रंग कर लम्बी-लम्बी लपटें बना डाली।

चित्रकार इससे अधिक कुछ कर भी नहीं सकता। चित्र को केवल रंग या आकार से समझना ही भूल होती है। माडर्न आर्ट में तो विशेष कर हर आकृति एक प्रतीक होती है और अपनी बुद्धि और कल्पनाशीलता पर काफी जोर डालने के बाद भी इसे समझना कठिन ही होता है। विराट् रूप को हम कल्पनाशीलता के बल पर भी नहीं समझ सकते। इससे तो बड़ा से बड़ा लाभ यही होगा कि हमारी जिज्ञासा बलवती हो जाए और हम साधना करना आरम्भ करें। बुद्धि के परे जाने की साधना से ही विश्व रूप देखा जा सकता है।

वैसे इस विश्व रूप का एक आभास हम महात्मा गांधी के रूप में देख सकते हैं। क्या महात्मा गांधी पांच फुट का एक हाड़ मांस का बना पुतला मात्र थे? क्या उनका दिल रक्त के संचारण का एक उपकरण मात्र था? नहीं। उनका आकार तो सम्पूर्ण भारत के गांवों-गांवों तक विस्तृत हो गया था। उनके लाखों-करोड़ों भुजाएं हो गई थीं क्योंकि भारतवर्ष के हर निवासी की शक्ति उनकी शक्ति बन गई थी। इसी लिए दुर्बल सी दिखलाई देने वाली उनकी काया अनन्तवीर्य हो गई थी। जो कार्य लाखों बन्दूकों के द्वारा सम्भव नहीं था वह उन्होंने कर दिखाया। उनके पेट भी हजारों थे। भारत का कोई भी पेट भूखा न रहे वे इस चिन्ता में रहते थे। एक बार उन्हें किसी ने फल भेंट

किए तो उन्होंने कहा था- 'फल तो इतने अच्छे दिखलाई दे रहे हैं कि खाने को जी चाहता है।' और फिर कहा- 'इन्हें हरिजन बच्चों को बंटवा दो, उनके माध्यम से मैं खा लूंगा।' गांधी जी को एक बार किसी ने रुपयों की थैली भेंट की तो उन्होंने कहा- बस इतना ही। वहीं उनके एक परम सहयोगी थे जिन्होंने हंस कर कहा 'बापू! आपका पेट तो भरता ही नहीं।' तब गांधी जी ने उत्तर दिया- 'कैसे भरेगा? मेरा पेट तो भारत का पेट है।' करोड़ों पेटों को उन्होंने अपना पेट माना इसीलिए तो उनकी आवाज पर 'कोटि-काटि प्राण चल पड़े' थे।

इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि जब किसी की भावना, बल, बुद्धि आदि का अत्यन्त विस्तार हो जाता है, उसका तादात्म्य दूसरों के साथ भी हो जाता है तो उसका आकार कितना बढ़ जाता है, कैसे उसके करोड़ों भुजाएं और पेट हो सकते हैं, कैसे वह ताप और शीतलता का पुंज बन सकता है और कैसे उसकी वाणी लपटें उगलने लगती है। इसी दृष्टि का विस्तार ही विश्व रूप दर्शन है क्योंकि परमात्मा का तादात्म्य तो विश्व के कण-कण से है।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ।।२०।।

हे महात्मा, स्वर्ग और पृथ्वी के बीच का सारा आकाश और सारी दिशाएं केवल आपसे ही परिपूर्ण हैं। आपके इस अद्भुत और उग्र रूप को देखकर तीनों लोक अति व्यथा को प्राप्त हो रहे हैं।

आरम्भ में अर्जुन को ऐसा रूप दिख रहा था जो अति सुन्दर और दिव्य आभूषणों से युक्त था। भगवान ने दशम अध्याय में वर्णन भी अपनी विभूतियों का ही किया था और अर्जुन ने देखना भी भगवान का ऐश्वर्य रूप ही चाहा था। पर हमारे चाहने से क्या होता है। शिष्य केवल सरल पाठ पढ़ना चाहे तो गुरु कठिन को पढ़ाना छोड़ नहीं देता। अर्जुन ने कहा- 'मुझे ऐश्वर्य रूप दिखाइए।' भगवान ने कहा- 'देख! देख!! और भी बहुत कुछ देख, मेरे सैकड़ों-हजारों रूपों को देख।'

सुन्दरता में, सज्जनता में, नेकी में, भलाई में भगवान को देखना आसान है लेकिन दुर्जनता में, कठोरता में, भयानकता और वीभत्सता में भगवान को देखना कठिन है। दसवें अध्याय में जो बात अधूरी रह गई थी उसे अब पूरी करना चाहते हैं भगवान। वे अर्जुन को आगे का पाठ पढ़ाना चाहते हैं।

ऐश्वर्य रूप देखने के बाद भगवान ने अपने स्वरूप के उग्र रूप को उजागर करना आरम्भ किया तो अर्जुन कांप उठा। हमारा स्वभाव ही होता है कि हम जिस मन:स्थिति में होते हैं वही मन:स्थिति हमें दूसरों की भी जान पड़ती है। वर्षा होने पर दु:खी व्यक्ति सोचता है कि प्रकृति भी आंसू बहा रही है और जो आनन्द में रहता है उसे लगता है कि प्रकृति पुष्प वृष्टि कर रही है। अर्जुन ने भी अपनी व्यथा यह कह कर प्रकट की- तीनों लोक आपके इस उग्र रूप को देख कर व्यथित हो रहे हैं।

सारी दिशाएं विश्व रूप से व्याप्त हैं यह बात इस श्लोक से पहले भी कही जा चुकी है। व्यास जी द्वारा की गई यह पुनरावृत्ति अकारण नहीं है। बार-बार इस बात को कहकर बार-बार वे याद दिलाना चाहते हैं कि इस रूप को हम चर्म चक्षुओं के पीछे काम करने वाले स्थूल ब्रेन से समझने की कोशिश न करें। अपने ज्ञानचक्षुओं को विकसित करने का प्रयत्न करें।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।।२१।।

सब देवताओं के समूह आपमें ही प्रवेश करते हैं। कुछ भयभीत होकर हाथ जोड़कर आपका गुणगान करते हैं तथा महर्षियों और सिद्धों के समूह 'कल्याण होवे' ऐसा कह कर उत्तम श्लोकों के द्वारा आपकी स्तुति करते हैं।

सभी प्राणियों का उद्भव परमात्मा से ही हुआ है और उनका विलय भी परमात्मा में ही होगा, यह बात सुनने पढ़ने में सहज लगती है पर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के विलय की कल्पना करें तो बड़ा भयानक लगेगा। एक्सीडेंट में चार लोग मारे गए इस समाचार को हम जितनी सहजता के साथ पढ़ सकते हैं उतनी सहजता के साथ देख पाएंगे क्या? चार क्षत-विक्षत लाशों को देखकर

हम व्याकुल हो उठेंगे। अर्जुन ने भी जब श्री कृष्ण के विश्व रूप में प्रवेश विलीन होते देखा तो वह घबरा उठा। सभी विलीन होने की प्रक्रिया में हैं। सभी काल के मुह में समा रहे हैं लेकिन उनकी प्रतिक्रियाएं अलग-अलग हैं। यहां अर्जुन ने सारे संसार को तीन वर्गों में बांट दिया है।

एक वर्ग वह है जो चुपचाप मृत्यु को स्वीकार कर लेते हैं। उनकी कोई विशेष प्रतिक्रिया नहीं होती। इनके लिए अर्जुन ने कहा है- अभी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति। दूसरा वर्ग उनका है जो मृत्यु से डरते हैं। वे यह नहीं सोचते हैं कि मृत्यु तो केवल रूप परिर्वतन है। पांच महाभूतों का यह शरीर वापस पंच महाभूतों में विलीन हो जाता है और आत्मा नया शरीर धारण कर लेती है। वे कुछ भी नहीं कर सकते इसलिए डर के मारे बस हाथ जोड़ कर भगवान को पुकारते हैं। इनके लिए अर्जुन ने इन शब्दों का व्यवहार किया है- केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति। किन्तु जो महर्षि और सिद्ध पुरुष अर्थात् उत्तम वर्ग के प्राणी हैं वे मृत्यु को देखकर विचलित नहीं होते। वे जानते हैं कि आत्मा अमर है। नव निर्माण के लिए ही पुरानी देह का अंत होता है। वे जानते हैं कि मृत्यु इसलिए आती है कि हमें अपनी वासनाओं के क्षय के लिए उपयुक्त देह मिल सके। वे समझते हैं कि मृत्यु कल्याण के लिए ही है अतः ऐसे पुरुष अंत समय में भी स्वस्ति वचन कह कर भगवान की स्तुति करते हैं।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ।।२२।।

रूद्र, आदित्य, वसु, साध्यगण, विश्वदेव, अश्विनी कुमार, मरुतगण, पितर, गन्धर्व, यक्ष, देवता तथा सिद्धों के समूह सब आपको विस्मित होकर देख रहे हैं।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ।।२३।।

हे महाबाहो! आपके बहुत से मुख और नेत्रों वाले, बहुत से हाथ पैर

और जंघा वाले, बहुत से उदरों वाले तथा बहुत सी विकराल जाड़ों वाले महान रूप को देखकर सभी लोक तथा मैं भी व्याकुल हो रहा हूं।

उपरोक्त दोनों श्लोंको में जो बात कही गई है उनमें कोई भी बात नई नहीं है। रुद्र, आदित्य, वसु इत्यादि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के प्रतीक हैं और अचंभित अर्जुन सबको अचंभित पाता है। उसने विकराल दांतों वाले रूप की कल्पना कभी की नहीं थी अत: वह ऐसा रूप देखकर थरथरा रहा है। यहां और आगे भी हम देखेंगे कि कई बातों को बार-बार कहा गया है। अर्जुन का एक बात को बार-बार कहना उसकी घबराहट को दर्शाता है। जब हम घबरा जाते हैं तो एक ही बात को बार-बार बोलते चले जाते हैं।

किन्तु घबराने से होगा क्या? अभी तो और भयानक दृश्य देखना है।

नभ:स्पृशं दीपत्मनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्टवा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो।।२४।।

नभ को स्पर्श करता हुआ अनेक रंगों से दीप्त आपका आकार, खुला हुआ मुख, बड़ी-बड़ी दहकती आंखें- इन्हें देखकर मेरा हृदय व्याकुल हो रहा है। हे विष्णु, मुझे न साहस मिल रहा है न शांति।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ।।२५।।

बड़े-बड़े दांतों वाले, प्रलयकारी कालाग्नि से दहकते हुए आपके मुख को देखकर मैं दिग्भ्रमित हो रहा हूं। मुझे शांति नहीं प्राप्त हो रही। हे देवेश! हे जगन्निवास! मुझ पर कृपा करो।

यह तस्वीर काल की है। काल के विषय में सोचने से ही हम भयभीत हो उठते हैं। ऐसा भी कहा जाता है कि सब कुछ काल के गाल में समा

गया, अतः विश्वरूप दर्शन में भी अर्जुन के सामने काल एक भयंकर, विकराल और डरावने रूप में आया। उसकी बड़े-बड़े दांतों वाली आकृति मानो सभी को खा जाने के लिए उद्धत है। मृत्यु सभी को भयावनी लगती है। मृत्यु का समय सामने नजर आता है तो हर प्राणी किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाता है और यहां तो काल स्वयं अपने प्रचण्डतम रूप में अर्जुन को दिखलाई दे रहा था इसलिए वह कहता है- दिशो न जाने न लभे च शर्म, अर्थात् न दिशाएं दिखलाई दे रही हैं न शांति मिल रही है। ऐसे में वह और क्या कर सकता है, कातर होकर प्रार्थना करने के सिवा- हे विष्णु! हे देवेश! हे जगतपति! मुझ पर कृपा करो, मुझ पर कृपा करो।

अभी तक तो अर्जुन को भगवान ने वह रूप दिखाया था जो स्थान की सीमा से मुक्त था अर्थात् सारा ब्रह्माण्ड सिमटे हुए रूप में अर्जुन के सामने आ रहा था अब वह रूप दिखलाई देने वाला है जो समय यानी काल की सीमा से मुक्त है। भूत, वर्तमान, भविष्य सभी काल एक साथ सिमट आए हैं। अर्जुन वह देख पाएगा जिसे जानने की उसे बड़ी उत्सुकता थी।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ।।२६।।
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः ।।२७।।

धृतराष्ट्र के सभी पुत्र पृथ्वी के अन्य राजाओं के समुदाय सहित, भीष्म, द्रोण, कर्ण, और हमारे पक्ष के भी प्रमुख योद्धा आपके भयानक विकराल दांतों वाले मुख में प्रवेश कर रहे हैं। कुछ जो दांतों के बीच चिपक गए हैं उनके सर चूर-चूर हो रहे हैं।

इन दोनों श्लोकों में अर्जुन ने जिस दृष्य का वर्णन किया है वह बहुत ही भयानक है। उसने देखा कि किस प्रकार कौरवों की सेना, उसकी अपनी सेना के योद्धा, कौरव स्वयं, द्रोण, कर्ण आदि वीभत्सतम मृत्यु को प्राप्त हो रहे हैं। वास्तव में परमात्मा तो अच्छे बुरे सबमें हैं। हर काम, चाहे वह सुंदर

और मोहक हो या वीभत्स और डरावना, सब उसी परमपिता द्वारा किया जाता है। सर्वशक्तिमान सत्ता केवल रचना ही नहीं करती, पालन भी करती है और संहार भी। वास्तव में संहार के बिना रचना हो ही नहीं सकती पर संहार का दृश्य हमें अच्छा नहीं लगता। जो दर्शन केवल सुंदर वस्तुओं में ही परमात्मा को देखता है वह अपूर्ण है। जो जीवन के सत्य को पूरी तरह नहीं समझ सकते उनके लिए मृत्यु भयावह है किंतु ज्ञानी पुरुष तो समझते हैं कि मृत्यु भगवान की योजना का कितना सुन्दर पक्ष है। जीर्ण के स्थान पर नवीन की स्थापना इसके बिना नहीं हो सकती।

अर्जुन का कहना है कि सभी तेज गति से आपके मुंह में समा रहे हैं। काल नहीं लपकता, प्राणी समाते हैं काल के मुंह में। काल से कोई नहीं बच सकता। कौरव सेना के साथ अपनी सेना का विनाश भी अर्जुन को दिखलाई देता है। योद्धाओं के कालग्रसित होने की उपमा अगले दो श्लोकों में अर्जुन दो प्रकार से देता है।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ।।२८।।

जिस प्रकार नदियों की अनेक धाराएं समुद्र की ओर बहती है उसी प्रकार ये वीर पुरुष आपके मुंह में प्रवेश कर रहे हैं जिससे लपटें निकल रही हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ।।२९।।

जिस प्रकार पतंगे तेजी से जलती अग्नि में प्रवेश करके नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार लोग आपके मुंह में प्रवेश कर रहे हैं।

मनुष्यों के भगवान के मुख में समाने की उपमा नदी से देने का विशेष अर्थ है। नदी वास्तव में सागर से ही बनी है। सागर का ही जल वर्षा बनकर अन्ततः नदी का निर्माण करता है और यही बहते हुए अन्त में फिर

सागर में समा जाता है। इसी प्रकार प्राणी का जन्म भी परमात्मा से ही हुआ है और कुछ काल अठखेलियां कर उसे परमात्मा में ही समाना है। यह स्वभाविक प्रक्रिया है। इसमें कहीं कुछ नष्ट नहीं होता। नदी और सागर तत्व रूप से वैसे ही एक हैं जैसे जीव और ब्रह्म।

दूसरे श्लोक में जीव के काल कलवित होने की उपमा दीपक के प्रकाश की ओर भागते हुए जलकर नष्ट होते पतंगों से की गई है। पिछले श्लोक में नदी सागर की उपमा चुनी गई थी जो जीव-ब्रह्म की एकता का निरूपण तो बहुत अच्छी तरह करती है किंतु नदी जड़ है। ऐसा मन में आ सकता है कि चैतन्य तो स्वयं मृत्यु के मुख में नहीं जाएगा इसलिए पतंगों की उपमा चुनी गई जो अपनी प्रकृति के वश ही मृत्यु को प्राप्त हो रहे हैं।

अर्जुन के विषाद का मुख्य कारण यही समझना था कि मैं हजारों लोगों की मृत्यु का कारण बन रहा हूं। उसके इस विषाद को दूर करने के लिए उसे इस बात का ज्ञान कराना बहुत आवश्यक था कि मृत्यु हर प्राणी की स्वाभाविक और अवश्यम्भावी प्रक्रिया है। इसकी सच्चाई जान लेने से मृत्यु का भय मिट जाता है।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगतसमग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो।।३०।।

हे विष्णु! लपटें निकलते हुए मुख से सभी दिशाओं से आप पूर्ण संसार को निगल रहे हैं, चाट रहे हैं। आपकी उग्र किरणों ने सम्पूर्ण विश्व को तेज से पूर्ण कर दिया है और जला रही हैं।

आख्याहि मे को भगवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ।।३१।।

मुझे बताइये, आप कौन हैं इस उग्र रूप में। मैं आपको नमस्कार करता हूं। हे देववर, आप मुझ पर कृपा करें! मैं आपकी प्रवृत्ति नहीं जानता। मैं उसे जानना चाहता हूं।

तीसवें श्लोक में भगवान का संहारक रूप पूर्णत: स्पष्ट हो गया है। सभी मुख में समाते जा रहे हैं और उनकी क्षुधा मानो बुझती ही नहीं। वे सभी को निगल जाने को आतुर लग रहे हैं। यह तो सामान्य अवस्था होती है जब सभी प्राणी समय के अनुसार मृत्यु को प्राप्त होते हैं। यहां तक तो बात अर्जुन के समझ में आ रही थी, पर जब उसने देखा कि सामने खड़ा विराट् पुरुष योद्धाओं को निगल रहा है, चाट रहा है, तो वह घबरा गया। उसे समझ नहीं आया कि यह क्या हो रहा है, कैसे हो रहा है, उसने कातर होकर भगवान को पुकारा– 'हे भगवान, यह क्या कर रहे हैं आप? मैं आपको प्रणाम करता हूं (आपकी शरण लेता हूं)। कृपा कर मुझे बताइए कि सत्य क्या है?'

वास्तव में परमात्मा को बुद्धि नहीं समझा जा सकता। लेकिन यह सोचकर बुद्धि का ताला बंद कर दें तब भी कुछ नहीं होगा। वास्तव में भगवान की महिमा को देखने जानने तथा उनकी लीलाओं के प्रयोजन को समझने का प्रयत्न करते-करते जब बुद्धि थक जाती है तब साधक के हृदय में समर्पण का भाव उत्पन्न होता है। हार कर किया गया समर्पण शुद्ध होता है। प्रयत्न और हार के बिना समर्पण में पूर्णता नहीं आ पाती।

हमारे जीवन के संघर्षों की गाथा भी यही है कि जब तक हम अपने बल पर समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं तब तक भगवान द्रष्टा बन कर देखते रहते हैं, जैसे पिता अपने एक साल के बच्चे को लड़खड़ा कर चलने का प्रयत्न करते देखता रहता है। वह बीच में हस्तक्षेप नहीं करना चाहता। लेकिन संघर्ष करते-करते जब शक्ति चुक जाती है और हम अपने पुरुषार्थ का भरोसा पूरी तरह से त्याग कर कातर स्वर में भगवान को पुकारते हैं तब वे गोद में ले लेते हैं।

इसमें ध्यान देने की बात यह है कि समर्पण के पहले प्रयत्न अवश्य हो। हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें और कहें कि भगवान तुम्हारी शरण में हूं, तुम मुझे बचाओ, तो वह समर्पण नहीं, कामचोरी है। इसमें कातरता नहीं, आलस्य है। इसमें पूर्णता नहीं, प्रमाद है। समर्पण में पूर्णता हारे बिना आती नहीं। हारकर भी आ जायें और हम भगवान की शरण ले लें तो ही बहुत है। हमारे उद्धार में देर नहीं होगी।

अर्जुन ने जैसे ही कातर होकर पुकारा भगवान ने तुरंत उसकी दुविधा दूर कर दी। उसे बता दिया कि वे कौन हैं।

श्री भगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृतः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।।३२।।

मैं काल हूं। यहां लोक का संहार करने के लिए प्रवृत्त हूं। तुम्हारे न मारने पर भी यहां खड़े योद्धा रहने वाले नहीं।

भगवान ने स्पष्ट बता दिया कि यहां अब सामूहिक नर संहार होने वाला है और मैं इसके लिए कटिबद्ध हूं। परमात्मा स्वयं कृतसंकल्प हो तो फिर कौन क्या कर सकता है? न मरने वाला चाहे तो बच सकता है न मारने वाला चाहे तो बचा सकता है। अर्जुन चाहे भी कि योद्धाओं को न मारूं, बचा लूं, तो भी वह कुछ नहीं कर पाएगा।

जब किसी व्यक्ति का स्वास्थ्य खराब हो जाता है तो उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी हो जाती है। व्यक्ति की तरह समाज, राष्ट्र या विश्व का भी स्वास्थ्य खराब हो जाता है। जब अनैतिकता और अत्याचार का बोलबाला हो जाता है, पारस्परिक घृणा, द्वेष, कलुषता, स्वार्थ आदि के विषाणु तेजी से बढ़ते हैं और कैंसर का रूप धारण कर लेते हैं तो उस राष्ट्र का अंत भी अवश्यम्भावी हो जाता है। यह काल चक्र है। इससे कोई बच नहीं सकता।

मनुष्य को केवल अपने ही कर्मों का फल नहीं भोगना पड़ता वह अपने माता पिता या बेटे बेटी के कर्मों से भी प्रभावित होता है। बेटा ड्रग लेने लगे तो कर्म तो उसी का हुआ पर उसके दु:ख रूप फल से पिता बच नहीं सकता। बेटे के प्रारब्ध से जिस प्रकार पिता अनायास ही जुड़ जाता है उसी प्रकार जिस समाज में वह रहता है उसका भी एक समष्टि प्रारब्ध होता है जिससे वह बच नहीं सकता। समाज का यह समष्टि प्रारब्ध सबके सम्मिलित कर्मों का फल है। एक साधु और एक डाकू के व्यक्तिगत कर्म अलग-अलग हैं अत: उनके व्यक्तिगत कर्मफल अलग-अलग हैं। डाकू को हथकड़ियां मिलती है साधु को पूजा। पर उस इलाके में भूकंप आ जाये तो दोनों की

स्थिति एक जैसी हो सकती है। पर्यावरण संरक्षक प्रकृति को शोषण से बचाने के लिए अपना जीवन समर्पित कर देते हैं लेकिन अधिकांश लोग तो अपने लाभ के लिए वन काट रहे हैं, प्रदूषण फैला रहे हैं, इसके कारण जो पर्यावरण असंतुलन बना है, अनावृष्टि होती है उसे तो सुंदर लाल बहुगुणा जैसे कर्मठ पर्यावरण प्रेमी को भी भोगना पड़ता है। यह हमारे देश का समष्टि प्रारब्ध है।

उस समय भी ऐसी स्थिति आ गयी थी कि अत्याचार और अनाचार का घाव कैंसर बन चुका था। वह मानो जीर्ण शीर्ण किला था जिसे पूरी तरह ढहाना आवश्यक हो गया था। ऐसे में वे ही नहीं मरेंगे जो दुराचारी हैं या दुराचारियों के सहायक हैं। समष्टि प्रारब्ध के अनुसार सदाचारियों की मृत्यु भी आवश्यक हो गई थी। दीवार में हलकी दरार पड़ती है तो हम सिमेंट का पैच लगा सकते हैं लेकिन जीर्ण दीवार के लिए तो यही अच्छा है कि पूरी तरह गिराकर नई दीवार खड़ी की जाए। भगवान यह बतलाना चाह रहे हैं कि सामूहिक संहार काल की गति है। नव निर्माण के लिए यह आवश्यक हो गया है। उसमें क्रूरता की बात नहीं है।

काल किसी के लिए ठहरता नहीं, किसी का प्रतीक्षा नहीं करता, किसी के ऊपर निर्भर भी नहीं करता। योद्धाओं का मरना तो अब निश्चित है अर्जुन युद्ध करे या न करे। मनुष्य तो निमित्त मात्र है। वास्तविक कर्ता तो परमात्मा ही है। हम कुछ भी करते हैं पर करवाने वाला ईश्वर ही है। किसी भी क्रिया के पीछे उसका कोई प्रयोजन होता है। उस प्रयोजन को समझने की कोशिश करें और न भी समझ पाएं तो अपने को भगवान का एक यंत्र मात्र समझकर संसार में कर्म करते रहें। हम चाहें भी तो ईश्वर की योजना में व्यवधान उत्पन्न नहीं कर सकते। हम तो क्लेश करके अपने को दुःखी ही बना सकते हैं क्योंकि हम अल्पशक्ति हैं और वे सर्वशक्तिमान। लेकिन यदि हम उनकी सर्व शक्तिमत्ता के साथ-साथ उनकी पूर्ण बुद्धिमता को स्वीकार कर लें तो हम मान पाएंगे कि जो कुछ हो रहा है वह हमें अनुचित भी लगे तो भी निश्चित रूप से कल्याणकारी ही है। सब कुछ करने वाले भी भगवान हैं और वे जो कुछ भी कर रहे हैं उचित कर रहे हैं ये दो बातें दृढ़ता से

बैठ जाएं तो न अपने भले किए का अहंकार टिक सकता है न अपने को बुरे मिले का क्लेश हो सकता है। भगवान इसे अगले श्लोक में और स्पष्ट करते हैं:-

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ।।३३।।

अतः तुम उठो, शत्रुओं को जीतकर यश प्राप्त करो और समृद्ध राज्य का भोग करो। ये मेरे द्वारा पहले ही मार दिए गये हैं। हे सव्यसाची, तुम निमित्त मात्र बनो।

अपने को निमित्त मात्र समझने का यह मंत्र बहुत ही लाभदायक और तथ्य परक भी है। वास्तविकता यही है कि वही कर्ता है और हम उसके यंत्र मात्र हैं जिन्हें वही चलाता है। उसके बिना हम हिल तक नहीं सकते लेकिन समझते हैं अपने को बड़ा तीसमारखां।

मैं निमित्त मात्र हूं यह समझना कठिन लगता है। अपनी लहलहाती फसल को देखकर खुशी उत्साह से फूलते हुए किसान से कहा जाए कि यह फसल तो भगवान ने खड़ी की है तो वह कभी नहीं मानेगा। किंतु जरा विचार करें। किसान ने बीज की रचना नहीं की, किसान ने मिट्टी नहीं बनाई, न ही उसने वर्षा के जल और नदियों को बनाया। पौधों को खींच-खींचकर बड़ा भी उसने नहीं किया न ही फूलों को फलों में बदलने में कोई भूमिका निभाई। तात्पर्य यह है कि किसी भी उपलब्धि के लिए जितना हमारा योगदान होता है उससे अधिक योगदान प्रकृति का होता है। प्रकृति का नियम है कि बीज को ठीक-ठीक मिट्टी, पानी, धूप इत्यादि मिले तो पौधे और फल तैयार होंगे। मानव तो केवल प्रकृति से ही विभिन्न सामान लेकर उनका ऐसा मेल करवा देता है कि यह क्रिया अच्छी तरह पूरी हो जाय। इस मेल करवाने की भी उसकी जो भूमिका होती है उसकी सम्पन्नता के लिए भी चैतन्य तत्व का होना आवश्यक है। फिर हम कम्बख्त हैं क्या?

प्रकृति ने हमें खनिज पदार्थ, जल, वायु, ताप आदि असंख्य वरदान दिये हैं जिनके कुछ खास गुण धर्म हैं। ये गुण धर्म वैज्ञानिकों ने नहीं बनाए

हैं। वे विद्यमान पहले से होते हैं पर जब तक हमें उनकी जानकारी नहीं होती तब तक हम उनका उपयोग नहीं कर सकते। वैज्ञानिक जब इनको जान जाता है तो इनका उपयोग अपने लाभ के लिए करने में ही अपने आप को महान समझने लगता है। यह बात ऐसी ही बचकानी है जैसे गर्म और ठंढा पानी मिलाकर गुनगुना पानी बना कर बच्चा खुश हो कि उसे 'पानी बना लिया।' जैसे गाड़ी में बैठे-बैठे उसे धक्का देने वाला बच्चा समझे कि गाड़ी उसी के धक्के से स्टार्ट हुई है। हमें अपनी वास्तविकता पर विचार करना चाहिए। इस विशाल ब्रह्माण्ड में जो कुछ जितना कुछ हो रहा है उसमें अपनी भूमिका पर विचार करें तो हम उतने महत्वपूर्ण भी नहीं जितना एक लोहार के लिए हथौड़ा।

वह यंत्री है हम यंत्र। वह नाच नचैय्या है हम कठपुतलियां। वह कर्ता है और हम निमित्त। इस सत्य को जानने के कारण हम अपने आप को कर्ता, भोक्ता, विजेता आदि समझ लेते हैं। जब कोई व्यक्ति अपने को 'वह' समझ लेता है जो वह नहीं है, तो उसके जीवन में, उसके कर्म में, हर जगह गड़बड़ी ही गड़बड़ी होती है। चपरासी यदि अपने को बॉस समझने लगे तो नतीजा क्या होगा? इस नतीजे की परिकल्पना तो हम आसानी से कर लेंगे पर हमारे अपने जीवन की कार्यशाला में भी यही पागलपन हो रहा है इसे हम नहीं जानते।

भगवान ने यहां प्रत्यक्ष दिखा कर यह स्पष्ट कर दिया है। भविष्य वर्तमान में सिमट आया है अतः अर्जुन साफ देख पा रहा है सबकी मृत्यु को। भगवान कह रहे हैं कि अर्जुन मैं इनको पहले ही मार चुका हूं। तुम तो केवल निमित्त बनोगे। यहां अर्जुन के लिए सव्यसाची संबोधन व्यंग्यात्मक है। सव्यसाची का अर्थ है दोनों हाथों से बाण चला सकने वाला। अर्जुन को बड़ा गर्व था कि वह सव्यसाची है और भगवान दिखला रहे हैं कि इस महान सव्यसाची को मरे हुओं को ही मारना है। इतने बड़े नाम की एकदम से ऐसी तैसी कर डाली भगवान ने।

यहां एक बात और ध्यान देने की है। अर्जुन अपने को निमित मात्र कब माने- शत्रुओं मारते समय भी, यश प्राप्त करते समय भी और राज्य सुख भोगते समय भी। तब न कर्ता भाव रहेगा न भोक्ता भाव। न पुण्य भावना रहेगी

न पाप भावना। हम तो हैं बेइमान। बुरा काम कर बैठते हैं तो कह देते हैं भगवान ने करा दिया। दु:ख पाते हैं तो सोचते हैं भगवान दु:ख दे रहे हैं। लेकिन यदि कोई काम अच्छा हुआ है तो यश लेने को तैयार रहते हैं- मैंने अमुक काम किया। और फिर उसके विभिन्न लाभ भी उठाते हैं। उस समय निमित्त मात्र समझने वाली भावना हवा हो जाती है।

परस्पर विरोधाभासी विचारों के बीच हम अपने को बचाने के तर्क ढूंढ़ते रहते हैं और हमारी जिंदगी थपेड़े खाती रहती है। हम अर्जुन की भांति क्या करूं, क्या न करूं की स्थिति में विषाद युक्त होते रहते हैं।

अर्जुन को विषाद से मुक्त कराने के लिए भगवान और स्पष्ट कर रहे हैं-

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।।३४।।

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य योद्धाओं को मैं पहले ही मार चुका हूं। तुम अब व्यथा त्याग कर इन्हें मारो। तुम युद्ध में शत्रुओं पर विजय प्राप्त करोगे।

'सभी को मार चुका हूं' यह कहने के पश्चात द्रोण, भीष्म, जयद्रथ तथा कर्ण के नाम विशेष रूप से भगवान गिना रहे हैं क्योंकि अर्जुन को इन लोगों से विशेष भय और परेशानी थी। द्रोण उसके गुरु थे, भीष्म उसके पूजनीय पितामह थे अत: इन दोनों को मारने का विचार उसे असहनीय था। इसके अलावा द्रोण के पास ऐसे दिव्य अस्त्र थे जिन्हें जब तक वे स्वयं न त्यागें, उन्हें जीतना असंभव था। भीष्म को इच्छा मृत्यु का वरदान था। जयद्रथ को भी विशेष वरदान मिला हुआ था। कर्ण के पास इन्द्र के दिए हुए दिव्य अस्त्र-शस्त्र थे। फिर भी हम काल चक्र का खेल देखते हैं महाभारत में। सबके वरदान की रक्षा भी होती है पर मृत्यु के के मुख से कोई नहीं बच पाता। असम्भव लगने वाली अनेक घटनाएं घट जाती हैं। वास्तव में असम्भव है तो एक ही बात-काल से बचना। भगवान ने स्पष्ट रूप से अर्जुन को कह दिया

है कि भय, हिचकिचाहट, विषाद किसी की भी आवश्यकता नहीं। निर्भय होकर युद्ध करो, तुम्हारी विजय निश्चित है।

अर्जुन ने तो जितना चाहा था उससे अधिक मिल गया। सारी जिज्ञासाएं शांत हो गई, सारा भय दूर हो गया, सारा मोह नष्ट हो गया, सारा विषाद समाप्त हो गया। उसे स्पष्ट अपनी राह दिखाई देने लगी। वह गद्‌गद्‌ हो गया। अर्जुन की अवस्था का वर्णन करते हुए संजय कहते हैं:-

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्‌गदं भीतभीतः प्रणम्य ।।३५।।

केशव के वचनों को सुनकर भयभीत मुकुटधारी (अर्जुन) ने दोनों हाथ जोड़ कर प्रणाम करते हुए गद्‌गद्‌ स्वर में कहा-

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ।।३६।।

हे हृषीकेश! आपकी महिमा से जगत हर्षित हो रहा है और अनुराग (प्रेम) को प्राप्त हो रहा है। राक्षस भयभीत होकर सब दिशाओं में भाग रहे हैं और सभी सिद्ध संघ अपको नमस्कार कर रहे हैं। यह उचित ही है।

विश्व रूप को देखने के बाद अर्जुन द्वारा की गई यह प्रार्थना अत्यन्त सुन्दर है। ज्ञान और प्रेम दोनों की परिपूर्णता इसमें दिखलाई देती है। ज्ञानी को तो अपने परम सत्य के रूप में परमात्मा का ज्ञान होता है। मेरी आत्मा, मेरा 'मैं' ही परमात्मा है। इसमें प्रेम की बात कहीं नहीं, बल्कि प्रेम तो बाधा ही है, क्योंकि जब तक वह अपने 'मैं' से प्रेम करता रहेगा तब तक उसका अहंकार, उसकी अस्मिता जाएगी नहीं और इनके पूर्णतः जाए बिना परमात्मा का ज्ञान होगा नहीं।

दूसरी और प्रेम है। लीलाधारी श्री कृष्ण–अथाह सौन्दर्य, चपलता, चंचलता, वीरता, करुणा और ज्ञान की भी मूर्ति। कोई भी गुण तो बाकी नहीं। अनिर्वचनीय रस के स्वरूप हैं। अद्‌भुत आकर्षण है उनमें। प्रेम की प्रतिमूर्ति हैं वे। एक बार उनके गुणों की हल्की सी झलक भी मिल जाए तो व्यक्ति दीवाना हो उठता है उनका। केवल 'वे' रह जाते हैं। संसार का आकर्षण, भोगों की कामना छूटती जाती है क्योंकि उस अनन्त आनन्द स्वरूप के आगे ये सब तुच्छ हैं, फीके हैं। संसार और भोग के साथ कब अपना 'मैं' भी कहीं गिर जाता है पता नहीं चलता। रह जाते हैं केवल प्रभु– हमारे प्राणधन, हमारे सुहृद्‌, हमारे शरणदाता, हमारे स्वामी। 'तू' ही रह जाता है 'मैं' चला जाता है।

उपरोक्त वर्णन से ऐसा लगता है कि ज्ञान का अर्थ परमात्मा का अपने अन्दर दिखलाई देना है और प्रेम में बाहर भगवान दिखलाई देते हैं। यानी दो अलग–अलग दिशाओं जाते हैं। पर बात ऐसी नहीं है। दोनो मार्ग आरम्भ अलग–अलग दिशाओं से होते हैं पर मिलते एक ही स्थान पर हैं। जब अंदर परमात्मा दिखाई देता है तो बाहर भी वही दिखलाई देने लगता है और जब बाहर चारों ओर कण–कण में वही नजर आने लगता है तो अपना 'अन्दर' भी उसी से भर उठता है। यह वह चरम स्थिति है जहां ज्ञान और प्रेम मिल जाते हैं, ज्ञान शुष्क नहीं रहता प्रेम अंधा नहीं रहता। ऐसे समय परमात्मा के प्रति जो उद्‌गार निकलेंगे वही अर्जुन के उद्‌गार हैं।

हम नया दर्पण खरीद लाते हैं तो उसका आकार, उसका फ्रेम, उसकी क्वालिटी देखते हैं। जब तक दर्पण कैसा है यही देखते रहते हैं तब तक उसमें अपने आप को नहीं देख पाते। जब उसमें अपना प्रतिबिम्ब देखने लगते हैं तो दर्पण का आकार, सुन्दरता छूट जाती है। अर्जुन ने पहले विश्व रूप का आकार, स्वरूप देखा था। तब उसे नजर आया था कि यह आकार में अनन्त है, यह स्वरूप में दिव्य है, तेजपूर्ण है वगैरह। फिर उसने उसके तत्व को देखा। उसके तत्व और अपने तत्व की एकरूपता को जाना। अब उसकी नजर आकृति से हट गई। पहले भी उसने स्तुति की थी, यह कह कर की आपका रूप महान है, बहुत से मुख, बाहु, पेट आदि हैं। किन्तु अब जो स्तुति कर रहा है उनमें ये बातें नहीं।

अर्जुन ने यहां 'हृषीकेश' सम्बोधन का प्रयोग किया है। जिसका अर्थ है, इन्द्रियों के स्वामी। अर्जुन ने भगवान को विशाल रूप वाले दिव्य पुरुष के या काल के रूप में ही नहीं, अपनी इंद्रियों के स्वामी के रूप में भी पहचान लिया है। पहले श्री कृष्ण से वह प्रेम करता था केवल, अब उसे ज्ञान भी हो गया है। अब उसके वचन आत्मस्वरूप श्री कृष्ण के लिए कहे गए हैं। ज्ञान और प्रेम का दिव्य संगम है यह स्तुति।

जब श्री कृष्ण ही हमें अपने में दिखाई देने लगते हैं तो हम हर्षित होते हैं। अपने हर्ष में सम्पूर्ण जगत हर्षमय जान पड़ने लगता है। हमारा अनुराग क्षण-क्षण बढ़ता ही जाता है। इतना कहने के बाद अर्जुन कह रहा है कि राक्षस भाग रहे हैं और सिद्ध नमस्कार कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि हमारे हृदय में जब परमात्मा की दिव्यता के दर्शन होने लगते हैं तो आसुरी प्रवृत्तियां दूर हटने लगती है और जो सद्प्रवृत्तियां हैं, वे इस दिव्यता के प्रति नमन करने लगती हैं। अच्छे गुणों के साथ-साथ विनम्रता भी आ जाती हैं कि हमारे गुणों में कम्बख्त 'हमारा' कुछ भी नहीं, सब उसी का है। इस श्लोक में 'स्थाने' शब्द का व्यवहार यह बताता है कि ऐसा होना बिल्कुल स्वाभाविक है।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ।।३७।।

हे महात्मन्, वे नमस्कार करें भी क्यों नहीं, आप सबसे श्रेष्ठ हैं, ब्रह्माजी के भी आदिकर्ता हैं। हे अनन्त, हे देवेश, हे जगन्निवास, आप अक्षर, आप सत् और असत् तथा इनसे भी परे हैं।

जो आत्मा मुझमें है वही समस्त सृष्टि के सभी चराचर वस्तुओं और प्राणियों में है। जो परमात्मा फूलों को सुन्दर और सुगन्धित बनाता है वही मुझमें उन्हें निहारने, सूंघने और प्रसन्न होने की क्षमता देता है। जो परमात्मा अग्नि के रूप में ताप देता है, जो अन्न के रूप में खेतों में उगता है वही हमें क्षमता देता है कि उस अन्न को पका कर, खा कर, परिपुष्ट हो सके। हम कहते हैं भोजन हमने बनाया। लेकिन भोजन और भोजन बनाने वाले का भी आदि कारण वही परमात्मा है। इसी प्रकार यह अनन्त संसार जो हम देखते हैं उसके

रचनाकार को हमने ब्रह्मा जी का नाम दिया हुआ है पर ब्रह्मा जी का कर्ता भी वही परमात्मा है यह स्पष्ट अनुभव हो जाए तो हमारा शीश भला उस अनन्त के सामने झुके बिना रह सकता है जो समस्त देवताओं का भी ईश है, जिसकी सत्ता ही हमारी आंखों को देखने की शक्ति, कानों को सुनने की शक्ति प्रदान करती है। सारा जगत जिसमें समाया हुआ हो भला उससे महान और कौन हो सकता है?

जब हम सृष्टि की बात करते हैं तो केवल पदार्थ से बनी वस्तुओं की ही बातें नहीं होती। ये तो व्यक्त हैं। इन्हें हम देख समझ सकते हैं। हम अपने विचारों और भावनाओं को भी देख समझ सकते हैं अतः उनकी भी सत्ता है। इन सबको सत् कहते हैं। इनके अलावा भी और बहुत कुछ हो सकता है जिनकी सत्ता को हम पहचान नहीं पाते अतः इन्हें असत् कहते हैं जैसे हमारी अव्यक्त वासनाएं। इन्हें हम तभी जान पाते हैं जब ये हमारी बुद्धि में विचारों का रूप ले लेती है। लेकिन विचारों की सत्ता वासनाओं के कारण ही है और वासनाओं का खेल भी आत्मा का ही खेल है।

केवल सत् असत् नहीं, परमात्मा इनके परे और भी कुछ है। सत् असत् की तो आखिर कहीं एक सीमा होगी किन्तु परमात्मा तो अनन्त है। जैसे हार और चूड़ी दोनों में स्वर्ण है तो स्वर्ण का अर्थ केवल हार और चूड़ी नहीं। वह उनसे अधिक और भी है। परमात्मा तो अनन्त ही नहीं अक्षर भी है। उसे काट कर या गला कर या रूपान्तरित करके यह संसार नहीं बना है। उसे विभाजित किया ही नहीं जा सकता क्योंकि वह किसी वस्तु के अन्दर उतना ही है जितना बाहर। जैसे दूध के ग्लास के अन्दर हम दूध की ही रेखाओं से बने एक सेन्टीमीटर वर्ग की कल्पना करें तो उसे बनाने से दूध कम नहीं हो जायेगा, बंटेगा भी नहीं क्योंकि अन्दर भी दूध ही है और उसे आकार देने वाली रेखाओं में भी दूध ही है।

अन्दर, बाहर, ऊपर, नीचे दाएं बाएं सब ओर वही है, केवल वही, फिर भी हमें उसका जरा सा भी आभास तक नहीं होता क्योंकि हमारे जीवन में वह घटित नहीं हुआ जो अर्जुन के जीवन में हुआ है। क्योंकि हमने कभी वैसा कुछ नहीं किया जो अर्जुन ने किया था जिसके फल स्वरूप यह घटना घटी। अर्जुन की निश्छलता, उसके प्रेम, उसके समर्पण का शतांश भी आ

जाए हम में, तो आभास हो ही जाये। और एक बार आभास हो जाए तो उस दिव्य प्रेम की डोर में हम बंधते ही चले जाएंगे।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ।।३८।।

आप आदि देव और पुरातन पुरुष हैं। आप विश्व के परम निधान हैं। आप ही जानने वाले हैं, आप ही जानने योग्य हैं और परम धाम हैं। आपके अनन्त रूप से यह विश्व व्याप्त है।

इस श्लोक में स्तुति करने के लिए अर्जुन ने जिन-जिन शब्दों का उपयोग किया है वे सब पहले भगवान ने ही अर्जुन को बताए थे। वे कैसे आदि देव हुए, कैसे सृष्टि की रचना के पहले से ही उनके होने के कारण वे पुराण-पुरुष कहे जाते हैं, सारी सृष्टि उन्हीं में समाई हुई होने के कारण वे जगत के परम निधान, परम धाम भी हैं। जानने की वस्तु भी वही हैं अर्थात् कर्ता-भोक्ता दोनों वे ही हैं इन बातों को वे बार-बार अर्जुन को बता रहे थे ताकि उसका अपना कर्ता-भोक्ता भाव छूट जाए। संसार को वह अपनी क्षुद्र अहंकार और ममत्व की आंखों से देखना बंद करे। उसकी दृष्टि निर्मल, मोह रहित हो जाए ताकि उसके हृदय का संताप मिट जाए। भगवान समझाते हैं कि मोह रहित होकर हम कर्म करेंगे तो कर्म अच्छा होगा। वे कुशल कर्म की कला ही यही बताते हैं किन्तु हम समझते हैं यदि बेटे में मोह न हो तो उसका लालन-पालन हो ही नहीं सकेगा। मोह के कारण ही तो हम किसी के लिए आसानी से तकलीफ उठा लेते हैं। दूसरे के बच्चे के लिए रात भर जागा जा सकता है क्या? ऐसा इसलिए होता है कि अहंकार और ममत्व की ही आंखें है हमारे पास जिससे एक छोटा सा संसार दिखता है- अपने ही विचारों, कामनाओं और राग द्वेष का। अध्यात्म ज्ञान का टेलीस्कोप हमारे पास नहीं है जिससे हम देख सकें कि हमारे विचारों के इस संसार के परे भी कुछ है।

जैसे संत महात्मा बताते हैं, हम सुनते हैं। 'बहुत अच्छा प्रवचन था'

कहते हैं और घर आकर उसी संकीर्ण संसार में फंस जाते हैं। प्रवचन से जब हम निकलते हैं तो हमारे खिले चेहरे देखकर भगवान प्रसन्न हो जाते होंगे कि यह तो जरूर आएगा मेरे पास। वे आतुर खड़े पागल प्रेमी की भांति प्रतीक्षा करते हैं पर हम घर के अंदर घुसे नहीं कि सब कुछ खत्म। प्रतीक्षा करते-करते थक कर पागल प्रेमी कंकरी फेंकता है खिड़की में। हमें याद दिलाने के लिए देखो तुम्हें मेरे पास आना है और मैं प्रतीक्षा कर भी रहा हूं। क्लेश की कंकरी लगती है, चुभन होती है, पीड़ा होती है तो हमें उसकी याद आती है। हम खिड़की से झांककर कहते हैं- आते हैं तुम्हारे पास तुरन्त। लेकिन मुंह घुमाया नहीं कि फिर सब भूल जाते हैं। लोग साधु महात्माओं के पास जा कर कहते हैं- महाराज संसार से एक दम जी ऊब गया। जीवन व्यर्थ लगने लगा है। संसार से छूटने का उपाय बताइए। यदि वे कह दें- चलो मेरे साथ, सब छोड़ दो। तो वे ऊबे हुए दुखी प्राणी कहेंगे- छोड़ कैसे सकेंगे? सर्विस के छः महीने बाकी हैं, अभी छोड़ देंगे तो पेंशन नहीं मिलेगी। अभी तो बेटी को पुत्र हुआ है, उसे संभालना है वगैरह-वगैरह। तो यह हाल है दुखी लोगों का भी।

तात्पर्य यह है कि किसी के द्वारा परमात्मा की महिमा समझा दी जाए और हमें लगे कि समझ में आ गई है तो उसमें हमारा रत्ती भर भी कल्याण नहीं होने वाला। भगवान अर्जुन को बड़ी देर से आदिदेव, पुराण पुरुष, धाम, निधान आदि बाते समझा रहे थे। वह समझ भी पा रहा था बीच-बीच में शंका होती थी तो प्रश्न भी पूछता था यानी बिना समझे छोड़ने वाला तो वह था नहीं। यहां तक तो हम और अर्जुन कमोबेश एक जैसे हैं। न वह बदला न हम बदल रहे हैं।

अंतर आया इसके बाद। हम तो समझ-बूझकर भी अपनी स्थिति को बदलने या उस परम सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव करने के लिए व्याकुल नहीं होते बल्कि साधुओं के पास जाने में गृहस्थियों को थोड़ा डर ही होता है कि कहीं उनकी बातों में आकर संसार से विरक्ति हो गई तो काम कैसे चलेगा। किंतु अर्जुन व्याकुल हो उठा। सत्य का साक्षात्कार करवा देने के लिए भगवान से प्रार्थना करने लगा। निश्छलता, प्रेम, समर्पण आदि की पूंजी तो थी ही, बस इसी व्याकुलता भरी जिज्ञासा की कमी थी। वह पूरी होते ही काम बन

गया। अब वह पुनः वे ही बातें दुहरा रहा है जो गुरु ने दुहराई थी लेकिन उसकी बात की तो बात कुछ और ही है। उसका स्वर गद्‌गद् है, वह बार-बार प्रणाम करते हुए कह रहा है।

ये सब उसके अलौकिक अनुभव के प्रत्यक्ष होने का ज्ञान कराते हैं। जैसे शिक्षक बताए कि हाइड्रोजन और आक्सीजन को मिलाकर जलती हुई माचिस की तीली डाल देने से पानी बन जाता है। विद्यार्थी सुन लेगा समझ लेगा। हां-हां कर देगा। किन्तु जब वह स्वयं प्रयोग करेगा तो कहेगा-अरे! हाइड्रोजन आक्सीजन को मिलाकर जलती हुई माचिस की तीली डाल देने से पानी बन जाता है!' बात वही है लेकिन इसके शब्दों में विस्मय है, प्रत्यक्ष ज्ञान के अनुभव का उल्लास है और ज्ञान विज्ञान की पूर्णता से उपजी भाव विभोरता है। वही विस्मय, उल्लास और भाव विभोरता हम अर्जुन के इन शब्दों में पाते हैं।

गद्‌गद् वाणी के साथ हृदय की गहनतम गहराई से वह स्तुति कर रहा है।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते। ।३९।।

आप ही वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति तथा प्रपितामह (अर्थात् ब्रह्माजी के भी पिता) हैं। आपको हजारों बार नमस्कार हो। नमस्कार हो। और फिर भी आपको बार-बार नमस्कार हो। नमस्कार हो।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ।।४०।।

हे सर्व! आपको आगे से नमस्कार हो। अपको पीछे से नमस्कार हो। सब ओर से नमस्कार हो। हे अनन्त वीर्य, अमित विक्रम वाले। आपने सबको समावृत कर रखा है अतः सब कुछ आप ही हैं।

विस्मित, चकित, भाव विभोर अर्जुन का गद्‌गद् कंठ भी अविरुद्ध होता जा रहा है। भावातिरेक में वह बार-बार प्रणाम कर रहा है, हजार बार

प्रणाम कर रहा है, हर ओर से प्रणाम कर रहा है। यह प्रेम उन्मत्तता की अवस्था है। कोई धैर्यवान ज्ञानी इस प्रकार पागल की भांति प्रलाप करते हुए बार-बार प्रणाम नहीं करेगा। वह तो आत्म ज्ञान के बाद स्वयं अपने आप में पूर्णता का अनुभव करेगा ऐसा हम सोचते हैं। किन्तु अर्जुन की अवस्था देखें। उन्मत्त है वह और यह उन्माद उसे श्री कृष्ण से आत्यन्तिक प्रेम पाकर नहीं चढ़ा है बल्कि सत्य का ज्ञान प्राप्त कर हुआ है। प्रेम का प्याला मुहावरा तो काफी प्रचलित है क्योंकि प्रेम उन्माद लाता ही है लेकिन अर्जुन ने तो ज्ञान की भंग भी खाई है।

यहां हमें ज्ञान और प्रेम का अद्‌भुत सामंजस्य दिखलाई पड़ता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ये विरोधी मार्ग नहीं है। अर्जुन उस दिव्य अवस्था में पहुंच गया है जहां ज्ञान और प्रेम मिलकर एक हो जाते हैं।

बार-बार नमस्कार कर अर्जुन का उद्वेग कुछ शांत हुआ तब उसे व्यवहार का भान हो आया। उसने कहा-

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ।।४१।।

आपकी महिमा को न जानते हुए 'मेरे सखा है' ऐसा मानकर मैंने प्रमाद से या प्रेम से हठ पूर्वक (अर्थात् बिना सोचे समझे) हे कृष्ण! हे यादव! हे सखे इस प्रकार से जो कुछ कहा-

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ।।४२।।

और हे अच्युत! हंसी दिल्लगी में, चलते फिरते, सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते, अकेले, सबके बीच मेरे द्वारा आपको जो तिरस्कार किया गया है, हे अप्रमेय! मैं उन सबके लिए क्षमा चाहता हूं।

अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नायक परब्रह्म स्वरूप श्री कृष्ण अर्जुन के लिए

अब तक मामा वसुदेव के पुत्र कृष्ण थे या ग्वालों के बीच रहे हुए यादव थे या उसके परम सखा थे। उसमें भी रिश्ते नाते की बात गौण थी। मुख्य तो उसका सखा भाव ही था। वे साथ-साथ खेले थे, अर्जुन की माता और कृष्ण की बुआ कुंती ने साथ-साथ पत्तलों में उन्हें खिचड़ी परोसी थी और अर्जुन कह देता था 'सारी खिचड़ी तुम अकेले ही खा जाओगे क्या?' एक ही बिछौने पर दोनो सो भी जाते थे। ऐसी घनिष्ठता होने पर भी अर्जुन कृष्ण के वास्तविक स्वरूप को अब तक नहीं जान पाया था। नारायणी सेना के विरुद्ध नि:शस्त्र कृष्ण को उसने इसलिए नहीं चुना था कि वह जानता था कि श्री कृष्ण तो समस्त शक्तियों की शक्ति हैं, वे मेरे साथ रहेंगे तो मुझे किस बात का डर! यह सोचकर उसने श्री कृष्ण को चुना होता तो यह व्यभिचार हो जाता। किन्तु उसके हृदय में तो श्री कृष्ण के लिए प्रेम था। शुद्ध, निश्छल, निष्कपट प्रेम जिसमें यह भाव हो कि मेरा प्रियतम मुझे चाहिए ही बस। इसके आगे मैं कुछ भी नहीं जानता। इसी प्रेम के मोल बिक गए सम्पूर्ण संसार के स्वामी। अर्जुन की हंसी, दिल्लगी, ठिठोली में कहे गए सब शब्द, किए गए सब मान अपमान उन्हें प्रिय लगते थे। किन्तु अर्जुन की अवस्था का क्या कहना जब उसने सत्य को जाना। एक ओर भगवान की दिव्यता, दूसरी ओर अपने द्वारा की गई हंसी-ठिठोली। सभी चलचित्र की भांति उसके साामने घूम रहे होंगे। अर्जुन के हृदय में अत्यन्त ग्लानि होती है, पश्चाताप होता है, अनजाने में किए गए अपने व्यवहार के लिए वह भगवान से क्षमा प्रार्थना करता है।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
नत्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ।।४३।।

आप इस चराचर जगत के पिता हैं, पूज्य हैं और परम गुरु हैं। तीनों लोकों में आपके जैसे अप्रतिम प्रभाव वाला कोई नहीं, आपसे अधिक तो क्या होगा।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधायकायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ।।४४।।

अतः हे पूजनीय ईश्वर, मैं आपको झुक कर प्रणाम करता हूं तथा क्षमा चाहता हूं। जैसे पिता पुत्र को, सखा सखा को, प्रिय प्रिय को क्षमा करता है, उसी प्रकार आप मेरी धृष्टता को क्षमा करें।

अर्जुन ने पहले तो भगवान की महिमा का गुणगान किया। उन्हें जगत का पिता और सर्वोच्च स्थान एवं प्रभाव वाला बता कर स्तुति की तथा अपनी पूर्वकाल की ठिठोली के लिए क्षमा याचना की। लेकिन अर्जुन की क्षमा याचना का तरीका बहुत बुद्धिमानी पूर्ण है। उसने रिश्ते गिनाए हैं। पिता-पुत्र, सखा-सखा, प्रिय-प्रिया। इन तीनों रिश्तों के अन्तर्गत हर सम्भव धृष्टता आ जाती है जो किसी बुरे उद्देश्य से नहीं, बल्कि अज्ञान, ठिठोली या दुलारवश की गई हो। बालक पिता को लात भी मार देता है, लेकिन पिता को बुरा नहीं लगता, क्योंकि बच्चा अभी नादान है। वही बड़ा होकर तिरस्कार की भावना से मार दे तो पिता शायद आत्म हत्या कर ले।

इसी प्रकार एक मित्र दूसरे मित्र से हंसी मजाक में कुछ भी कह दे, वह उसका बुरा नहीं मानेगा और प्रिया-प्रियतम की बात ही क्या? वह कुछ भी कह सकता है, कुछ भी करवा सकता है। तात्पर्य यह है कि इन तीनों रिश्तों में भाव सच्चे हों, मन में कलुष न हो तो क्षमा करना इतना सहज होता है कि मन में यह भाव तक नहीं आता कि इसने अपराध किया तो भारी है, पर जाने दो, हटाओ, क्षमा करो इसे। मन की मन से पहचान होती है, अतः बुरा ही नहीं लगता तो क्षमा करे किसे।

भगवान तो अर्जुन के पिता भी हैं, सखा भी हैं, प्रियतम भी हैं। अर्जुन को तब तक संकोच हो रहा था जब तक वह भगवान को जगत का पिता समझ रहा था। अब उसे अपने और भगवान के रिश्ते का ध्यान आया। सरल, निष्कपट, उसकी लज्जा, भय, ग्लानि सब दूर हो गई। ऐसे करुणानिधान, प्रेम के सागर से कैसा भय, कैसी शर्म!

परम कृपालु भगवान तो हर क्षण हमारी धृष्टता को क्षमा कर हमें अपना पुत्र, अपना सखा, अपना प्रिय बनाने को तत्पर है, हम उसके सम्मुख जाएं तो सही, उन्हें अपने अहंकार को सौंपे तो सही, जैसा अर्जुन ने किया। तब हम जो करेंगे, वह अपराध नहीं, धृष्टता होगी और हम उनके लिए क्षमा

भी मांग पाएंगे।

प्रणाम अपने आप को झुकाकर तथा इष्ट के चरण छू कर किया जाता है। यह अहंकार के विगलन का प्रतीक है। प्रणाम करने में शरीर के साथ-साथ मन भी जुड़ा होना चाहिए। शरीर के साथ मन भी झुके, लेकिन हम तो ऐसे हैं कि शरीर झुका भी लेते हैं तो भावनाएं और विचार अकड़े खड़े रहते हैं। मंदिर में प्रणाम करते वक्त भी ख्याल यही रहता है कि कौन-कौन मुझे देख रहे हैं, या क्या होगा इस पत्थर की मूरत को प्रणाम करके, मुझे कुछ मिलने वाला नहीं। शरीर झुकता भी है तो 'मैं' नहीं झुकता। 'मैं' के साथ लगी पाशविक वासनाएं, कुत्सित प्रवृत्तियां और निकृष्ट विचार वैसे ही रहते हैं। यही हमारा धन है जो हमने बड़ी मेहनत से एकत्र किया है। जिसे जुटाने में हम जीवन भर जी जान से लगे रहे हैं।

इन्हें झुकाएं और परमात्मा को अर्पण कर दें -'हे प्रभु! तुमने मुझे इतना सुन्दर जीवन, इतना अच्छा शरीर, इतना शक्तिशाली मन, इतनी प्रखर बुद्धि दी। इन सबों का भरपूर उपयोग करके मैंने जो कुछ एकत्र किया है, उस पर आज मुझे लज्जा आ रही है- क्या किया मैंने! किन्तु हे प्रभु, यही मेरी पूंजी है, मैं आपको और क्या दे सकता हूं? आप इसे ही स्वीकार करते हुए नादान पुत्र की भांति मुझे मानकर क्षमा करें।' भटका हुआ पुत्र दर-दर को ठोकरें खा कर पिता के पास लौटता है तो पिता का असीम प्यार उसे हाथ बढ़ा कर उठा लेता है, उसे गले लगाने को आतुर रहता है।

यदि इतना प्यार एक साधारण पिता के मन में अपने पुत्र के लिए हो सकता है तो जिसकी झोली से हमें इन मानवीय भावनाओं का प्रसाद मिला है, उस जगत पिता के हृदय में हम सबके लिए कितना प्यार भरा होगा! क्या अपनी इस संकुचित बुद्धि से इसका अंदाज लगा पाएंगे?

जब हम सच्चे हृदय से अपने पिता, मित्र या प्रियतम से क्षमा मांग लेते हैं तो हमारा मन तुरंत हल्का हो जाता है। दूसरा कोई हो तो सोचते भी हैं कि पता नहीं उसने क्षमा किया कि नहीं दिल से मेरे प्रति दुर्भावना को निकाला कि नहीं, लेकिन पिता, मित्र और प्रियतम के लिए तो हम विश्वस्त रहते हैं कि क्षमा मांगने भर की देर है। क्षमा याचना हमें अपराध बोध और

ग्लानि भाव से मुक्त कर देती है। अर्जुन ने भी जैसे ही क्षमा मांगी, भगवान ने कुछ उत्तर दिया कि नहीं, उनके चेहरे पर सदा विराजित रहने वाली मंद स्मित को देखकर अर्जुन सहज हो गया।

इतनी ही देर में अर्जुन के अन्दर का वही अर्जुन फिर उभर आया जो सदा से ही भगवान के साथ मनमानी करता आया था। प्रेम बावरे कृष्ण कभी उसके दूत बनते थे, कभी उसके लिए अपने दाऊ दादा से भी छल कर बैठते थे, कभी उसका रथ हांकते थे। अभी-अभी उनका विश्व रूप देखकर अर्जुन स्तंभित हो गया था, अतः उसका व्यवहार बदल गया था। वह बार-बार अपने सखा को प्रणाम करने लगा था, लेकिन जैसे ही सहज हुआ अपने चिर-परिचित स्वर में फिर भगवान को अपनी इच्छा के अनुसार चलाने लगा।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देवरूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ।।४५।।

हे देवेश! हे जगन्निवास!! आपका यह अदृष्ट पूर्व रूप देखकर मैं हर्षित हो रहा हूं पर साथ ही मेरा मन व्यथित भी है। हे देव! मुझ पर कृपा करें मुझे वही रूप दिखाएं।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ।।४६।।

हे सहस्रबाहो! हे विश्व मूर्ते! मैं आपका मुकुट तथा हाथ में गदा चक्र लिए हुए पहले वाले रूप को देखना चाहता हूं। आप चतुर्भुज रूप धारण कीजिए।

अर्जुन श्री कृष्ण को देव, जगन्निवास आदि बड़े-बड़े नामों से संबोधित अवश्य कर रहा है, बाकी लहजा वही पुराना- 'मैं ऐसा चाहता हूं, तुम ऐसे

ही करो।'

वैसे तो श्री कृष्ण द्विभुज ही रहते थे। कभी-कभी उन्होंने अपना चतुर्भुज रूप प्रकट किया था। अर्जुन को भी जब विराट् रूप दिखाना आरंभ किया तो सबसे पहले चतुर्भुज रूप दिखाया। वह रूप तो अर्जुन को बहुत ही अच्छा लगा। श्री कृष्ण विष्णु ही है यह जानने के बाद मनन करे तो बात सारी समझ में आ जाती है लेकिन श्री कृष्ण को तो समझाना मात्र नहीं था। समझाते तो वे आ ही रह थे इतनी देर तक, अब तो उन्हें सब कुछ दिखा देना था स्पष्ट। अपना उग्रतम और वीभत्सतम स्वरूप भी वे अर्जुन को दिखला देना चाहते थे जिसे देखकर अर्जुन सिहर उठा।

ज्ञान प्राप्ति के लिए यदि अरुचिकर दृश्य देखना भी पड़े तो हम देख तो लेंगे पर उसे बाद में देखते रहना नहीं चाहेंगे। देखते रहना तो हम वही चाहते हैं जो सौम्य हो, सुदर्शन हो। अर्जुन को भगवान के सहस्त्रबाहो होने का ज्ञान तो हो गया पर रुचिकर उसे उनका चतुर्भुज रूप ही लगा था। वह उसी को देखना चाहता है और प्रार्थना करता है- हे सहस्त्रभुजा वाले, आप चतुर्भुज रूप धारण कीजिए।

श्री भगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ।।४७।।

श्री भगवान ने कहा- हे अर्जुन! मैंने प्रसन्न होकर अपनी सामर्थ्य से यह तेजोमय विश्वरूप दिखाया है जो अनन्त है, जिसे तुम्हारे सिवाय पहले किसी ने नहीं देखा।

अर्जुन भगवान से बार-बार कह रहा था कि आप प्रसन्न हो जाइये, आप मुझपर कृपा कीजिए। यहां भगवान कह रहे हैं- 'अरे भैया, मैं तो प्रसन्न ही हूं। मेरा उग्र रूप तुमने देखा अवश्य है, जिससे तुम डर गए हो लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि मैं तुमसे नाराज हूं। तुम्हें डराने या धमकाने के उद्देश्य से यह विकराल रूप मैंने नहीं दिखाया।'

कुछ अरुचिकर, अप्रीतिकर हो तो यह न सोचें कि भगवान नाराज हैं, वे सजा दे रहे हैं। भगवान भक्त से नाराज नहीं होते, प्रसन्न ही रहते हैं। वे सजा नहीं देते, कृपा ही करते हैं। वे जो कुछ भी करते हैं वह केवल इसलिए कि हमारे प्रति उनका प्रेम है अत: वे चाहते हैं कि हम कुछ सीख-समझ लें, सुधर जाएं। उनके पास जेल नहीं सुधार गृह है पर उस बच्चे की क्या कहें जिसे स्कूल जाना ही सजा लगती हो क्योंकि उसमें एक जगह बैठना पड़ता है, मेहनत करनी पड़ती है, मूड के हिसाब से नहीं रूटीन के हिसाब से चलना पड़ता है।

हम प्राय: अनुकूल परिस्थिति को ही भगवान की कृपा समझते हैं। यदि मन शांत रहता है, घर में शांति रहती है, शरीर स्वस्थ रहे और भगवान का भजन होता रहे तो हम समझते हैं कि भगवान कृपा है। अनुकूलता में ही कृपा समझना तो कृपा को सीमा में बांधना है। भगवान की कृपा तो असीम है, अनन्त है और श्रेष्ठ साधक वे ही हैं जो हर अनुकूलता-प्रतिकूलता को उनकी कृपा ही समझें।

भगवान का एक नाम जनार्दन है। वे निज जन मर्दन हैं। जिसे अपना समझते हैं उसे खूब रगड़ते हैं। जैसे मां अपने बच्चे को रगड़-रगड़कर स्वच्छ करती है, उसका मैल छुड़ाती है। बच्चे के रोने की परवाह नहीं करती क्योंकि वह जानती है कि बच्चे को साफ करना जरूरी है। उसी प्रकार भगवान हमारी निकृष्ट वासनओं का मल साफ करने के लिए तरह-तरह के साबुन-शैम्पू लगाते हैं। यदि हम इतनी श्रद्धा रख पाएं कि आज जो मुझे अच्छा नहीं लग रहा है उसमें जरूर भगवान की मेरे कल्याण के लिए योजना है तो सचमुच हम भगवान की योजना में अपना मन मिला पाएंगे। तब हमारे कल्याण के लिए निर्धारित की गई योजना सुन्दर तरीके से सफल होगी वर्ना भगवान छोड़ने वाले तो हैं नहीं, वे और हथकंडे अपनाएंगे।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रै:।
एवंरूप: शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर।।४८।।

हे कुरुप्रवीर, मनुष्य लोक में इस प्रकार के विश्व रूप वाला मैं न वेदों को पढ़ने से, न यज्ञों के अनुष्ठान से, न दान से, न उग्र तपों से, न

मात्र क्रियाओं से तेरे सिवा और किसी के द्वारा देखा जाना शक्य हूं।

भगवान ने पिछले श्लोक में बताया था कि विश्वरूप तो उन्होंने अपनी प्रसन्नता से अर्थात् अर्जुन पर कृपा करके दिखाया है। यहां उसी को निषेधात्मक तरीके से बता रहे हैं। वेद पाठ, यज्ञ, दान, तप तथा अन्य कुछ कर्मों को हम उत्तम समझते हैं लेकिन भगवान स्पष्ट कर रहे हैं कि इन सब क्रियाओं से विश्व रूप दर्शन संभव नहीं।

यहां ध्यान देने की बात यह है कि ऐसा कह कर भगवान ने इन सबकी आलोचना नहीं की है, इन्हें बेकार नहीं बताया है केवल यह कहा है कि ये सब हमें उच्चतम अवस्था तक नहीं पहुंचा सकते। ये साधन अवश्य है लेकिन इनकी एक सीमा है। हम इन्हें साध्य समझने का भ्रम न पालें। यह न समझें कि वेद पाठ या दान वगैरह करते रहेंगे तो भगवान को सम्पूर्णता से जान ही लेंगे।

इसके पहले नवें अध्याय में भगवान ने कहा था कि जो कुछ तुम तप करते हो, दान करते हो, यज्ञ करते हो उन्हें मेरे अर्पण कर दो, तुम कर्म बंधनों से मुक्त होकर मुझे प्राप्त कर लोगे। यहां वे कह रहे हैं कि तप, यज्ञ, दान, से मुझे पाया नहीं जा सकता। इसमें कोई विरोधाभास नहीं है।

अभिप्राय यही है कि तप, यज्ञ, दान, आदि में महत्व क्रिया का नहीं भाव का है। यदि ये ईश्वर अर्पण बुद्धि के साथ किए जाएं तभी ये भगवान को पाने के साधन बनेंगे। इसके अलावा दूसरी किसी भी भावना से किए जाए यानी यश या श्री प्राप्ति की कामना रहे तो भगवान के लिए इनका कोई महत्व नहीं है।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृंममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।।४९।।

यह इस प्रकार का मेरा घोर रूप देख कर तुम्हें व्यथा या मूढ़ भाव को प्राप्त नहीं होना चाहिए। अब निर्भय और प्रसन्न मन वाले होकर तुम फिर उसी मेरे (चतुर्भुज) रूप को देख लो।

भयभीत अर्जुन को भगवान पुनः आश्वासन देते हैं कि वे उसकी इच्छा के अनुसार चतुर्भुज रूप दिखा रहे हैं पर उसे डरना या घबराना नहीं चाहिए। इसे वे मूढ़ता समझते हैं और कह रहे हैं- अर्जुन भयावह परिस्थितियों को मेरी नाराजगी समझने की मूर्खता मत करो। वह मेरी कृपा ही है ऐसा मानो। भयभीत मत होओ क्योंकि मैं भिन्न-भिन्न रूपों में तुम्हारे सामने आता हूं तो उसमें तुम्हारे प्रति मेरा प्रेम और शुभेच्छा ही है।

श्रेष्ठ साधक का एक लक्षण है निर्भयता। सोलहवें अध्याय में दैवी पुरुषों के लक्षण गिनाने के क्रम में अभय को भगवान ने पहला स्थान दिया है क्योंकि निर्भयता अतिशय प्रेम, विश्वास श्रद्धा से ही आती है। एक बार एक पति पत्नी जहाज में यात्रा कर रहे थे। तूफान आ गया। जहाज डगमगाने लगा। पत्नी घबरा गई किंतु पति शांत चित्त था। पत्नी ने पूछा- 'ऐसी स्थिति में भी तुम शांत कैसे हो?' पति ने तुरंत पिस्तौल निकालकर पत्नी की कनपटी से सटा दी। पत्नी हंसने लगी-'यह क्या खेल खेल रहे हो।' पति ने पूछा-'मृत्यु सामने देखकर तुम घबराई क्यों नहीं, हंस क्यों रही थी।' पत्नी ने उत्तर दिया- 'क्योंकि मुझे विश्वास है कि तुम मुझसे प्रेम करते हो। तुम मेरा अनिष्ट नहीं कर सकते।' पति ने कहा- 'मुझे भी इस पूरे संसार को प्रेम देने वाले प्रभु पर ऐसा ही विश्वास है।'

लौकिक धरातल पर ही जब प्रेम का विश्वास हमें भयमुक्त कर सकता है तो उसकी क्या कहें जिसे यह दृढ़ विश्वास है कि सर्वशक्तिमान जगत पिता उसके कल्याण के लिए सदा चिंतित हैं। जिसे इस प्रेम का आभास हो गया हो वह भला स्वयं क्यों चिंतित होगा? वह सोयेगा क्योंकि उसके वासुदेव तो जाग ही रहे हैं।

यदि हम साधना कर रहे हैं और चिंतित भी होते हैं, भविष्य के प्रति भयभीत भी रहते हैं तो समझ लें साधना में बहुत कमी है अभी। ईश्वर पर सब कुछ छोड़ने अर्थात् उसकी इच्छा में अपनी इच्छा मिलाकर प्रसन्न रहने की कोशिश करें। इस दृष्टि से अर्जुन में भी भारी कमी थी लेकिन भगवान प्रेम में अंधे हो जाते हैं। उन्हें भक्त में कमी लगती है तो भी वे उसे चेता अवश्य देते हैं पर साथ-साथ स्वयं भी उसके स्तर पर नीचे उतर आते हैं।

अर्जुन को डरना नहीं चाहिए था फिर भी वह डरा। भगवान ने कहा- तुम डर ही रहे हो तो लो, तुम जैसा चाहते हो वैसा ही बन जाता हूं मैं। तुम चतुर्भुज रूप ही देखना चाहते हो तो वही देख लो।

धन्य है उनकी भक्त वत्सलता और प्रेम पराधीनता!

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ।।५०।।

संजय ने कहा- वासुदेव भगवान ने अर्जुन से ऐसा कहकर फिर उसी प्रकार अपना (चतुर्भज) रूप दिखाया। पुनः महात्मा श्री कृष्ण ने सौम्य वपु (द्विभुज) होकर भयभीत अर्जुन को आश्वासन दिया।

महर्षि वेद व्यास हमें कुरुक्षेत्र की रणभूमि से पुनः धृतराष्ट्र के राजप्रसाद में ले जाते हैं जहां संजय धृतराष्ट्र को वर्णन सुना रहे हैं। संजय श्री कृष्ण की भगवत्ता का इतना विस्तार से वर्णन करते हैं कि हमें लगता है कि स्पष्ट जान लेने के बाद धृतराष्ट्र को बुद्धि क्यों नहीं आई। उसने यह क्यों नहीं समझा कि साक्षात् भगवान ही पाण्डवों के साथ हैं तो लड़ना मूर्खता है।

धृतराष्ट्र को मूर्ख समझते समय हमें यह समझ लेना चाहिए कि वह बेचारा बुद्धि का अंधा था ठीक हमारी तरह। हममें से कितने हैं जो भगवान के न्याय में विश्वास नहीं करते? बुरे कर्म का फल अच्छा नहीं हो सकता और 'भगवान के घर अंधेर नहीं हो सकता' और 'उसकी लाठी में आवाज नहीं होती लेकिन अत्याचारी पर बरसती जरूर है,' इन उक्तियों को क्या हम झूठ मानते हैं? पर अपने अंदर झांक कर देखें कि क्या इन्हें पढ़, सुन या याद कर हम अपनी जीवन पद्धति बदल पाते हैं?

भगवान ने अपना चतुर्भुज रूप अर्जुन को दिखाया और फिर वे सौम्य वपु हो गए अर्थात् अपने चिर-परिचित, सौम्य, सुंदर, सहज रूप में आ गए जिससे कभी कोई डरता नहीं था।

यहां एक बात ध्यान देने की है कि संजय ने भगवान के लिए महात्मा

शब्द का व्यवहार किया है। पहले भी ग्यारहवें अध्याय में ही वे श्रीकृष्ण के लिए महात्मा शब्द का प्रयोग कर चुके हैं। यानी इसी अध्याय में उनका परमात्मा रूप भी प्रकट हुआ और महात्मा रूप भी। परमात्मा तो जगत नियन्ता हैं। वे सब समय, सब जगह, सबके लिए एक जैसे रहते हैं किन्तु महात्मा भक्त की दुर्बलताओं को समझ कर ऊपर उठाने के लिए स्वयं नीचे आ जाते हैं। वे उनके स्तर पर उतर कर उन्हें उंगली पकड़ाते हैं। श्रीकृष्ण परमात्मा ही नहीं, महात्मा भी हैं। वे अर्जुन की दुर्बलता को देखते हैं तो उसी के अनुसार चलने लगते है ताकि उसका ढाढस बंधा रहे।

गीता और उपनिषद् में भी यही अंतर है। उपनिषद् तो उच्चकोटि के साधकों के लिये, उन्हीं के अनुसार रचे गए हैं किन्तु गीता में भगवान हम साधारण से साधारण, सांसारिक मोह-जाल में फंसे हुए गृहस्थों की भी उपेक्षा नहीं करते। वे अपने उपदेश वहीं से आरम्भ करते हैं जहां हम इस क्षण खड़े हैं। 'मैं सबको देख लूंगा, मैं सबके होश ठिकाने लगा दूंगा' संसार के चक्र में फंसकर ऐसा कहने वाले की भावनाओं को उन्होंने सोलहवें अध्याय में आसुरी भाव की संज्ञा दी है लेकिन उन्हें भी गीता रूपी अमृत की पात्रता से वंचित नहीं रखा। सुदुराचारी अर्थात् दुराचार शिरोमणि के भी कल्याण मार्ग बताते हैं। चलना न चलना हमारे ऊपर है।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ।।५१।।

अर्जुन ने कहा- हे जनार्दन, आपके इस सौम्य मनुष्य रूप को देख कर मैं स्थिर चित्त हो गया हूं और अपनी (स्वाभाविक) प्रकृति को प्राप्त हो गया हूं।

अर्जुन ने भगवान को जनार्दन कहा है। जब कष्ट का समय समाप्त हो जाता है और उसका अच्छा नतीजा हम देख लेते हैं तो हम सोचते हैं- भगवान ने अच्छा ही किया जो मुझे ऐसा रगड़ा। इसी कष्ट की आंच में तप कर तो मुझमें निखार आया है। अर्जुन का भी भय जब दूर हो गया तो उसका

चित्त स्थिर हो गया। उसे मनुष्य तनधारी श्री कृष्ण सामने दिखाई पड़े जिसने उसे निखारने के लिए वह उग्र रूप दिखाया था। उसके कथनों में कृतज्ञता का भाव है।

श्री भगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ।।५२।।

श्री भगवान ने कहा–मेरा यह जो रूप तुमने देखा इसके दर्शन अत्यन्त दुर्लभ हैं। इस रूप को देखने के लिए देवता भी नित्य आकांक्षा रखते हैं।

भगवान ने जो रूप अर्जुन को दिखाया उसके लिए सुदुर्दर्शम् शब्द का व्यवहार करते हैं। इस शब्द में संस्कृत भाषा की सुन्दरता दिखलाई देती है। सु का अर्थ है अच्छा। यह विधेयात्मक उपसर्ग है और दु निषेधात्मक उपसर्ग है। यहां दोनों का प्रयोग साथ हुआ है। अभिप्राय यह है कि कल्याणकारी तो बहुत है पर साथ ही दुर्लभ भी है। इसे देख पाना बहुत ही कठिन है।

पहले भी भगवान ने कहा था कि वेदाध्ययन, उग्र तप, दान आदि से भी इन्हें नहीं देखा जा सकता। यह इसकी दुर्लभता बताई। अब बता रहे हैं कि यह रूप इतना शुभ है कि देवता भी देखने के लिए लालायित रहते हैं। यहां मनुष्य योनि की महत्ता समझ में आती है। साधारणतः हम समझते हैं कि देवता मानव से श्रेष्ठ हैं। वे स्वर्ग लोक में रहते हैं जहां इच्छा के उदित होते ही पूर्ति हो जाती है। किसी चीज के लिए तरसना नहीं पड़ता। सारी बात ठीक है पर परमात्मा के दर्शन के लिए तो उन्हें तरसना ही पड़ेगा, कोई उपाय कर पाने का भी अधिकार उन्हें नहीं है। केवल भोगों की उनकी कामनाएं पूरी हो सकती हैं, आत्म उद्धार की नहीं। उसके लिए तो उन्हें मनुष्य का ही जन्म लेना पड़ेगा। मनुष्य का जन्म लेकर भी ईश्वरार्पण बुद्धि न रखे और पुण्यफल स्वयं भोगने की इच्छा से तप यज्ञ दान अध्ययन आदि करें तो भी फिर से देव योनि ही प्राप्त हो सकती है, निर्बाध विषय सुख ही मिल सकते हैं, परमात्मा नहीं।

अत: हमें चाहिए कि हम पहले तो अपनी मनुष्य योनि की महत्ता समझें। फिर विचार करें कि यदि ऐसा जन्म मिला है जिसमें परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है तो क्यों न अब कुछ ऐसा करें जो और किसी योनि में नहीं किया जा सकता।

ऐसा विचार पक्का हो जाए, परमात्मा की प्राप्ति का संकल्प दृढ़ हो जाए तो फिर देखें कि क्या करना होगा? ध्यान दें। भगवान अगले दो श्लोकों में हमें सुगम उपाय बताने जा रहे हैं।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।।५३।।

जिस प्रकार तुमने मुझे देखा ऐसा न तो वेद से, न तप से, न दान से न यज्ञ से ही देखा जा सकता है।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ।।५४।।

किन्तु हे परंतप! इस प्रकार मैं अनन्य भक्ति से ही तत्व से जानने में, (सगुण रूप से) देखने में और प्रवेश में शक्य हूं।

भगवान स्पष्ट कर देते हैं कि उनके स्वरूप का दर्शन तो वेद, तप, दान आदि से नहीं, भक्ति से ही संभव है और उसमें भी अनन्यता की शर्त है।

भगवान भी मिले संसार भी रहे यह दोनों बातें नहीं चल सकती। वे बड़े ईर्ष्यालु हैं। उन्हें तो ऐसा भक्त चाहिए जो यह कहे- तू रहे, तू ही रहे, मैं भी न रहूं (संसार की बात ही क्या) ऐसा भाव जब आता है तो चतुर्भुज रूप के दर्शन अवश्य होते हैं।

इसका अर्थ यह नहीं कि उस भक्त का शरीर छूट जाता है या मन बुद्धि रह नहीं जाती या उसकी पत्नी, पुत्र, बंधु, बांधव मर जाते हैं। संसार

की समाप्ति शर्त नहीं, संसार के प्रति ममत्व, आसक्ति या कामना का पूर्ण अभाव और भगवत् प्राप्ति की तीव्र व्याकुलता ही हमें दर्शन करा सकती है।

यहां तीन चरण बताए हैं- जानना, देखना और प्रवेश करना। हम पहले मुरली मनोहर श्री कृष्ण को परमात्म रूप में जान पाएं इसके लिए हमें सत्संग, अध्ययन, मनन चिंतन करना होगा। जब हमारी बुद्धि इस सत्य को स्वीकार कर लेगी तो हमारी व्याकुलता बढ़ेगी और हम चाहेंगे कि हमें उनके दर्शन हो जाएं। हम इतने व्याकुल हो उठेंगे कि संसार की किसी वस्तु में आकर्षण नहीं लगेगा, किसी व्यक्ति में आसक्ति का अनुभव नहीं होगा। बार-बार उनसे प्रार्थना करेंगे कि भगवान मुझे दर्शन दो। मुझे और कुछ भी नहीं चाहिए। मुझे अपना स्वरूप दिखाओ। तब हमारे प्रेम से पिघल कर भगवान हमें यह रूप दिखाएंगे। इस तरह जानना और देखना तो अर्जुन को भी हुआ। विभूतियों का वर्णन सुन कर उसने भगवान की दिव्यता जानी। तब व्याकुल होकर प्रार्थना की और भगवान ने उसके प्रेम पराधीन हो कर उसे अपने रूप के दर्शन कराए।

लेकिन बात यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती अगला चरण है प्रवेष्टुं यानी प्रवेश करना, डूब जाना। हम उस रूप में ऐसे डूब जाएं कि अपने को बिल्कुल ही भुला दें। हमें अपनी पृथक् सत्ता का भी आभास न हो। हम प्राणधन श्री कृष्ण के साथ बिल्कुल एक हो जाएं। यह उच्चतम अवस्था है जिसे वेद में अहम् ब्रह्मास्मि द्वारा शब्दांकित किया गया है। अभिन्नता की यह स्थिति एक बार प्राप्त हो जाए तो जाती नहीं।

अर्जुन ने विश्व रूप देखा था, प्रवेश नहीं किया था अतः उसका पाठ पूरा नहीं हुआ है और इसी से अगले अध्याय की भूमिका बनती है। भगवान अर्जुन की उत्कंठा जगाने के लिए इस अंतिम श्लोक में अनन्य भक्ति का संक्षिप्त वर्णन करके छोड़ देते हैं।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ।।५५।।

हे पाण्डव! जो मेरे लिए ही कर्म करने वाला, मेरे ही परायण और

मेरा ही भक्त है तथा सर्वथा आसक्तिरहित और प्राणिमात्र के साथ वैररहित है वह भक्त मेरे को प्राप्त होता है।

भगवान को प्राप्त करने यानि उनके स्वरूप में प्रवेश करने, उनसे अभिन्न हो जाने के लिए पांच शर्तें इस श्लोक में गिनाई गई हैं। ये पांच प्रकार की साधनाएं हैं। पांचों का संगम ही अनन्य भक्ति है। इसको हम दो भागों में बांट सकते हैं- भगवान के साथ घनिष्ठता और संसार के प्रति उदासीनता। दोनों साथ-साथ ही होती हैं। भगवान के साथ जैसे-जैसे घनिष्ठता बढ़ती है वैसे-वैसे संसार में चित्त का रमना कम होता जाता है।

मत्कर्मकृत् यानी मेरे लिए कर्म करना, मत्परमो यानी मेरे परायण होना और मद्भक्त यानी मुझसे प्रेम करना। ये तीन साधनाएं भगवान के साथ घनिष्ठता बढ़ाती हैं। जब साधक सोचता है कि वह जो कुछ कर रहा है भगवान के लिए, उनकी प्रसन्नता के लिए, उनकी योजना पूर्ति का उपक्रम मात्र बनकर कार्य कर रहा है, तो उसकी सारी चिन्तनशीलता भगवान पर केन्द्रित हो जाती हैं। उसे लक्ष्य रूप में वही दिखाई देने लगते हैं।

यही भगवत् परायणता है जब अपना परम आश्रय, परम गति परमात्मा ही जान पड़ने लगे। इसके कारण उनमें तन्मयता बढ़ती है। सतत् उनका चिन्तन, उनकी लीलाओं का स्मरण हृदय में उनके प्रति प्रेम जगाता है। मन की सारी भावानाएं भी उन्हीं पर केन्द्रित होने लगती हैं। यह तात्पर्य है मद्भक्त का।

भगवान के प्रति ऐसी भावनाएं चित्त में आ जाए तो सारा संग, शरीर, स्त्री, पुत्र, धन मान, बड़ाई, यश के प्रति जो आसक्ति होती है वह अपने आप छूट जाती है। वह आसक्ति रह जाती है जो प्रभु में होती है। ऐसा संगवर्जित मानव स्वत: ही निर्वैर हो जाता है क्योंकि उसे तो हर समय हर वस्तु व्यक्ति में अपने प्राणधन ही नजर आते हैं फिर द्वेष का प्रश्न ही कहां रह सकता है। भगवान का उद्घोष है कि इन साधनों को करने वाला व्यक्ति मुझे प्राप्त होता है।

इस प्रकार श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद में विश्व रूप दर्शन योग नामक एकादश अध्याय पूर्ण हुआ।

ॐ तत् सत्